कर्ण
डॉ. अमरेन्द्र

कर्ण

कर्ण

कवि
डॉ. अमरेन्द्र

समीक्षा प्रकाशन
दिल्ली/मुजफ्फरपुर

ISBN : ९७८.८१.८७८५५.६३.७

प्रथम संस्करण
२०१८

सर्वाधिकार ©
लेखिकाधीन

प्रकाशक
समीक्षा प्रकाशन
जे. के. मार्केट, छोटी कल्याणी
मुजफ्फरपुर (बिहार)-८४२ ००१
फोन : ०९३४२७९९५७, ०९९०५२९२८०१
E-mail : samikshaprakashan@yahoo.com
www. samikshaprakashan.blogspot.com

दिल्ली कार्यालय
आर-२७, रीता ब्लॉक
विकास मार्ग, शकरपुर, दिल्ली-९२
फोन : ०९९११४७८६६८

शब्द-संयोजन
सतीश कुमार

आवरण-चित्र
प्रभाकर

मुद्रक
बी.के. ऑफसेट,
शाहदरा, दिल्ली।

मूल्य
३००.०० (तीन सौ रुपये)

KARN By Dr. Amrendra Rs.300/-

उनके हाथों में,
जो ग्रंथि से ग्रसित नहीं हैं ।

—अमरेन्द्र

पर्व-क्रम	पृष्ठ
• जनुष् पर्व सर्ग एक	११-१८
• प्रारब्ध पर्व सर्ग दो	१९-२६
• बीज पर्व सर्ग तीन	२७-३५
• चन्द्रातप पर्व सर्ग चार	३६-४३
• प्रज्ञा पर्व सर्ग पाँच	४४-५५
• भँवर पर्व सर्ग छह	५६-६३
• प्रबोध पर्व सर्ग सात	६४-७३
• प्रमदवन पर्व सर्ग आठ	७४-८१
• संक्रान्ति पर्व सर्ग नौ	८२-९०
• प्रतिज्ञा पर्व सर्ग दस	९१-९७

- स्वप्न पर्व ९८-१०५
  सर्ग ग्यारह
- वृष पर्व १०६-११४
  सर्ग बारह
- आवर्त्त पर्व ११५-१२७
  सर्ग तेरह
- प्रत्यूष पर्व १२८-१४०
  सर्ग चौदह
- गिरिडीह पर्व १४१-१५३
  सर्ग पंद्रह
- गवाक्ष पर्व १५४-१६६
  सर्ग सोलह
- प्रपंच पर्व १६७-१८५
  सर्ग सत्रह
- पुनर्नव पर्व १८६-१९७
  सर्ग अठारह
- प्राणदान पर्व १९८-२०८
  सर्ग उन्नीस
- कूटनीति पर्व २०९-२१९
  सर्ग बीस
- घटुत्कच पर्व २२०-२३०
  सर्ग इक्कीस
- मकर पर्व २३१-२४६
  सर्ग बाईस
- पंचता पर्व २४७-२५६
  सर्ग तेईस

निवेदन

'भारत', फिर 'महाभारत' और महाभारत से भी बाहर का फैला हुआ वृहत महाभारत, जिसमें इतिहास का रहस्य, घने अंधकार की परतों के कारण, आँखें बंद किए पड़ा है ।

सदियों का लोकविश्वास सोपान बन सकता है, इस अंधकार में छिपे रहस्य तक पहुँचने के लिए । क्या है वह रहस्य ? आधुनिक अंग महाजनपद के दक्षिण छोर पर बसे धनुवाडीह का रहस्य, जहाँ कभी वनवास के क्रम में जब अपने पुत्रों के साथ पृथा पहुँची, तो शरीर और मन से जैसे एक साथ ही विचलित हो उठी । तुरत वहाँ से निकल जाने का आदेश अपने पुत्रों को दिया और जब दूर निकल आई, तभी स्थिर हो सकी। युधिष्ठिर ने प्रश्न किया कि ऐसा क्या हुआ था वहाँ ? कुंती चुप रह गई, लेकिन लोकमानस तो अब भी सबकुछ बोल रहा है । उसके बोलने में ही कर्ण के जन्म का रहस्य भी गथा हुआ है । और फिर झूमराज बाबा की कथा ही कहाँ चुप है !

'कर्ण' काव्य में मैंने उन्हीं बिखरे सूत्रों को जोड़कर और विभिन्न संदर्भों के सहारे अंधकार में खुली आँखों से देखने का प्रयास किया है, और सोते-जागते मैंने कर्ण की जो परेशानियाँ देखी हैं, उसे बुदबुदाते हुए सुना है, उन्हें बिना किसी लाग-लपेट या बदलाव के, काव्य से बाँध दिया है । कोशिश इतनी भर रही है कि कर्ण का वह रूप भी आकार ले सके, जो काव्य के शिल्पियों से अब तक छूटे रहे हैं, और जिसने कभी 'भारत' के रचयिता को महाकाव्य में कर्णपर्व जोड़ने के लिए विवश किया था तथा भविष्य के काव्यकारों के लिए वाद-विवाद, संवाद के लिए जगह भी छोड़ दी है । मेरा यह काव्य संवाद की दिशा की ओर उठा एक चरण भर है, जिसमें

मेरे काव्य-जीवन का सम्पूर्ण संतोष समाया हुआ है ।

एक बात और, जिसे मैं कहना चाहता हूँ, यह प्रबंध उस परिवेश में नहीं रचा गया है, जिसकी ओर 'काव्यमीमांसा' में राजशेखर ने संकेत किया है, यह तो दिन भर के व्याप्त शोर और रात की मानसिक थकान के बीच रचा गया काव्य है, जो किसी कुलीन काव्य के सृजन में सहायक नहीं बनते। कर्ण का जीवन तो इससे भी अधिक दस गुणा दुःसह रहा होगा। शरीर-मन-मस्तिष्क साथ नहीं देते, इसीसे आपके हाथों में यह प्रबन्ध उसी रूप में सौंप रहा हूँ, जिस रूप में यह उतरा है, बिना किसी जोड़-घटाव के ।

—अमरेन्द्र

होली, ०२ मार्च २०१८

सम्पर्क : लाल खां दरगाह लेन, सराय
भागलपुर, बिहार-८१२००२

कर्ण

जनुष् पर्व
(सर्ग एक)

रात की बेला सघन थी, पृथा चिन्तित,
थी बहुत आश्वस्त लेकिन भय भी किंचित–
''क्या हुआ जो लौट कर आया न प्रहरी ?''
मन की शंका हो रही थी और गहरी–

''क्या हवा अनुकूल होकर बह न पायी ?
क्या वरुण ने राह में बाधा उठायी ?
क्या दिशा भटका गई संकेत-पथ को ?
कौन रोके यह खड़ा है समय-रथ को ?

''क्या हुआ जो लौट कर आया न प्रहरी''
मन की शंका और गहरी और गहरी ।
लग रहा था एक युग-सा एक क्षण तक,
बन के पर्वत ही खड़ा हो, एक कण तक ।

मन यही करता, निकल जाए भवन से,
चाँद जैसे निकल पड़ता श्याम घन से ।
कर यही निश्चय पृथा ने गगन देखा,
नील नभ पर रश्मियों को मगन देखा ।

फिर गगन में ज्वार-भाटा उर्मियों का,
नृत्य जिस पर बादलों का, बिजलियों का;
एक तारक बीच में कब से सिहरता,
डूबता है उर्मियों में, फिर उभरता ।

ले रहा शिशुरूप, फिर किलकारियाँ हैं,
गीत मंगल गा रही-सौ नारियाँ हैं ।
अंग ज्यों कंचन तपा-सा बहुत दपदप,
कर रहा है लघु करों से वारि छपछप ।

भोर आँखों में जगा हो, रात सर पर,
गौर से देखा पृथा ने फिर ठहर कर;
लघु चरण ऊपर उठाता, फेंकता है,
और करवट लेके नीचे देखता है ।

गुरु, विभाकर, सूर्य सब आगे हुए हैं,
कर-चरण के भाग्य सब जागे हुए हैं;
बह रहा है स्वर्णतरी पर; हो हिंडोला,
देख, मन का हर्ष कुन्ती ने टटोला ।

देखती है क्षीर-सिन्धु दधि-उदधि है,
दधिसुता, दधिसुत वहाँ, कुछ और यदि है ।
वृष्टि केशर की, खिला अम्बर कमल-सा,
हो गया हो व्योम कंचन के महल-सा ।

झूलता है पालने पर हेम का सुत,
बन अटल, इस्थिर, विभा का पुत्र अच्युत,
और फिर सब कुछ अलोपित ही अचानक,
हो उठा है पूर्व-सा ही हृदय धकधक ।

फिर वही लहरें, तरी पर शिशु वही फिर,
मेघ कुन्ती-दृष्टि-पथ में आ रहे घिर;
सोचती कुछ और, प्रहरी सामने था,
जीत कर आया हुआ हो; ज्यों, विजेता ।

देख कर जाती रही शंका पृथा की,
लीन होती नीलिमा नीली व्यथा की;
बोलती आगे पृथा कुछ जानने को,
धैर्य लेकिन था कहाँ कुछ सामने को ।

कह उठा, ''सब कुछ कुशल है, क्षेम कहिए,
देवता का, देवियों का प्रेम कहिए;
कालिमा कैसी भयावह ! मृत्यु जैसी,
रात कालिख-कोठरी में बन्द-सी थी।

''गिरि-वनों के रास्ते सब तिमिरपोषित,
काल की ही रात थी वह, पूर्ण घोषित;
इस नदी की उस नदी से धार मिलती,
एक पल में कोस भर थी जा निकलती ।

''और मेरा अश्व गति में यान बन कर,
था तिमिर से होड़ लेता खूब तन कर;
क्या कहूँ हे देवी, लेकिन वह पुरुष जो,
इस तरह चलता कि फीकी अश्वगति तो ।

''स्वप्न था मेरा कि आँखों का भरम था,
जागता था दिवस-सा ही; घोर तम था;
रात भर तिगुनी रही थी गति मरुत की,
और तिगुनी धार चन्दन की अनोखी ।

''स्वर्ण का संदूक सीधे जा रहा था,
धार के संग मरुत लोरी गा रहा था;
रात भर बहता रहा संदूक थिर-सा,
एक टक था देखता उसको अधिर-सा ।

''और जब संदूक तट से जा लगा तो,
शांत थीं सारी दिशाएं, उदधि सातो,
और संग-संग रात भर वह जो चला था,
भोर होते व्योम से वह जा मिला था ।

''वह उधर से जा रहा था, तो इधर मैं
अब भी कितने प्रश्न सारे इस हृदय में ।
भोर की पहली किरण उगने लगी थी,
थी उनींदी-सी हवा लेकिन जगी थी ।

''कौन था वह रात भर चलता रहा था ?
गति मरुत की नापते बहता रहा था;
रश्मियों को दूर तक आगे बिछाए,
इस तरह कि सब दिखे, वह दिख न पाए ।

''मेरा अचरज तो यही सबसे बड़ा था,
एक अनुपम देश के तट पर खड़ा था ।
क्या कहूँ हे देवी, कैसा देश है वह,
कुसुम कंचन का खिला; हो गंध महमह ।

''सौध कंचन के बने, मठ और मंदिर,
कुछ न जाना कौन-सा वह देश आखिर !
स्वर्ण के पथ, स्वर्ण की गलियां, चौराहे,
स्वर्ग उतरा हो धरा पर; कौन थाहे !

''गिर रही थी स्वर्ग की सुषमा जहाँ पर,
मुक्ति को अमरत्व मिलता है वहाँ पर !
देश वह; बैकुंठ ही सचमुच धरा पर,
कोई अद्‌भुत भक्ति हो शोभित परा पर !

''वेदवाणी-सी बहे गंगा जहाँ पर,
देवी ! ऐसा देश धरती पर कहाँ पर !
यह तो मैंने बाद में जाना नरों से,
प्रश्न तो दो-चार, बाकी उत्तरों से ।

''अंग उसका नाम है, उस देश का तो,
छू के बहती है कई नदियाँ, न सातो !
ऋषि-तपस्वी, मुनिवरों की भूमि है वह
कुसुम-कंचन का खिला-सा, गंध महमह !

''देवी, क्या आश्चर्य था वे भोर के क्षण,
रश्मियों से हो रहा था स्वर्ण कण-कण !
जा लगी थी पेटी चंपा के किनारे,
शांत अपने आप लहरों के सहारे ।

''और फिर देखा किनारे संत कोई,
श्रेष्ठकुल उत्पन्न हो, कुलवंत कोई;
गोद में लेकर खड़ा वसुषेन को था,
और शिशु किलकारियों में था, जो रोता ।

''उस समय देखा था शिशु को यूँ हुलसते,
सिद्धि-निधि की गोद में सुख को किलकते ।
मोक्ष से बढ़ कर सुखद वह एक क्षण था,
योग क्या संयोग था ? ऋण से उऋण था ।

''जो भी हो अद्‌भुत कथा वह योग की है,
इस धरा पर जन्म की और भोग की है,
और फिर कुछ दूर पर कुछ-कुछ दिखा था,
स्वर्णपट पर चाँदी से जैसे लिखा था ।

''देखता उसकी तरफ, तो वह नहीं था,
दूर क्षिति के पार भी न कुछ कहीं था;
सोच कर, मेरा ही भ्रम हो, मौन धारा,
कह गया मैं अनकहा सब सत्य सारा ।

''पर बताया ही नहीं आगे हुआ क्या,
जैसे ही उस व्यक्ति ने शिशु को लिया था;
हट गया मैं, दूर होता ही गया फिर,
झर पड़ी थी रश्मियां उस वक्त झिरझिर ।

''भोर की बेला भले वह, दिन लगा था,
नींद से जैसे अचानक मैं जगा था !
उस पुरुष के वाम में ही संगिनी थी,
अप्सरा ही सामने; अर्द्धांगिनी थी ?

''ले लिया नवजात को था पुरुष-कर से,
गोद में रख खिल पड़ी थी पाँव-सर से;
देख कर वह दृश्य मैं तो खिल गया था,
जो मिला न आज तक वह मिल गया था ।

''लौट आया हूँ यहाँ मैं वायु गति से,
बच बचा कर आँख नारी-नर से, यति से ।
देवी, कुछ भी अब नहीं चिन्ता का कारण,
हो गया भवितव्य के दुख का निवारण ।''

चुप हुआ प्रहरी, न आगे कुछ कहा फिर,
पाँव इस्थिर, हाथ इस्थिर, बोल इस्थिर ।
पूर्णिमा ही; ज्यों शरत के घन-तिमिर में,
थी पृथा वैसी ही अब भी दिन-मिहिर में ।

देख कर यह रूप धात्री हट गई थी,
पीर ऐसी थी कि छाती फट गई थी;
सर झुका प्रहरी वहाँ से लौट आया,
सामने रवि की सिहरती स्वर्ण छाया ।

झुक गया सर कुंती का मधुरा श्रद्धा से,
हो गई करबद्ध कोमल कामना से;
पत्तियों से फूटता संगीत जैसे
गूंजते हैं स्वर किसी के मंद्र लय से ।

''दुख नहीं करना पृथा अपने किए पर,
कुछ नहीं इस्थिर यहाँ, सब भाव गत्वर;
कर्ण दोनों के प्रणय का पुण्य फल है,
पंक के ऊपर खिला उज्जवल कमल है ।

''जो कवच-कुंडल दिया, पहचान हैं ये,
पाश-बंधनबद्ध मन के गान हैं ये;
तेज सम्मुख तुमसे है आकार पाकर,
है प्रकृति सचमुच पुरुष से आज ऊपर ।

''जो तुम्हारी सृष्टि है, स्रष्टा बनेगा,
तामरस होगा, ये इन्दीवर खिलेगा ।
यह पिता-माता के व्रत का ही व्रती हो,
देवता के धर्मरथ का ही रथी हो ।''

झिलमिलाए फिर पृथा के रूप सुन्दर,
शांत पुलकित हो रही है ओढ़ अम्बर ।
इन्द्रधनु की रश्मियां; रवि का दिवस है,
वृक्ष पर सूखी लता भीगी-सरस है ।

प्रारब्ध पर्व
(सर्ग दो)

''देवता हे रश्मियों के, रश्मियों के देहधारी,
कौन हैं, क्या काम है, मुझसे हुई क्या भूल भारी ?
केश स्वर्णिम, भौंह स्वर्णिम, रोम स्वर्णिम,
रश्मियों-सी मूँछ-दाढ़ी, देह; जैसे, व्योम स्वर्णिम ।

''आ गये क्या दण्ड देने, तो मुझे स्वीकार है वह,
सच कहूँ इस दीन पर तो दण्ड भी उपकार है यह;
जानती हूँ भूल अपनी जो खड़ी है पाप बन कर,
शांति जीवन का हरेगी आज से यह शाप बन कर।

''जिस समय गंगा के तट से स्वामी ने शिशु को उठाया,
मेरे मन में एक शंका, एक भय आकर समाया;
यह नहीं सामान्य शिशु है, देवता का अंश है यह,
पुण्य के आलोक का ही भूमि पर अवतंश है यह ।

''पर रही न याद कुछ भी, देख शिशु को मोह छाया,
दूध उमड़ा जो नशों में वह हृदय पर उतर आया;
आज सम्मुख देवता के पाप मेरा खुल गया है,
क्यों मुझे लगता है मेरी देह में विष घुल गया है ।

''जो किया, जो कुछ हुआ, शिशुहीन होने से सभी तो
कुछ नहीं बासी हुआ है सुख विगत का वह अभी तो।
बस यही अपराध मेरा, पाप मेरा, भूल मेरी,
देवता हे रश्मियों के, रश्मियों के देह धारी !''

सुन के यह अधिरथ-प्रिया की बात मधुमय,
हो गया कंचन रजत-सा फेंक विस्मय;
और बोले सूर्य फिर स्वर की सुधा में,
''व्यर्थ ही हो अंगबाला इस व्यथा में ।

''मत करो मन को मलिन यूँ, तुम धरा की श्रेष्ठ नारी,
आज तुमसे हो रहा है देवता का पुण्य भारी;
तुमसे जो पालित हुआ है, अंग देवी; पुत्र मेरा,
घोर तम में दृष्टि खोले देखता अरुणिम सवेरा ।

''जो तुम्हारी गोद में है खेलता, कुन्ती-तनय है,
भाग्य कुछ विपरीत समझो, इसलिए ऐसा समय है ।
लोक का भी भय प्रबल था, कुल का उससे कम नहीं था,
एक विभ्रम फैलता-सा बस वहाँ, कुछ सम नहीं था ।

''मन किसी का, तन किसी का, गोद किसकी क्या है खेला,
एक नारी है अकेली, एक नर हूँ मैं अकेला;
जन्म देकर कुन्ती कितनी रोई थी उस क्षण अकेली,
अश्रु से भीगी हुईं थी, रक्त से लथपथ हथेली ।

''आ गई थी तट नदी के उस निशा की बांह पकड़े,
इस तरह कुछ बस अभी ही टूक छाती, साँस उखड़े ।
उस अंधेरी रात में ही एक डेंगी में सुला सुत,
लकड़ियों का घर बनाकर देखती ही रही, अद्‌भुत ।

''उस समय क्या कर सकी थी मुझको ही वह विस्मरण,
टूटता था धैर्य मेरा, वज्र मन का आचरण;
विनती की थी देवियों की, देवताओं को झुका सर,
आज तक भूला नहीं हूँ झर रहे थे नयननिर्झर ।

''माँ की ममता खुल पड़ी थी; ज्यों अधिर बरसात आदिम,
सूर्य का मैं ताप लेकर जल रहा था दीप मद्धिम;
घुल रहा था करुण स्वर में तीर पर मेरी प्रिया का,
बस निवेदन, बस निवेदन, बस निवेदन अक्षरा का ।

''किस तरह से वरुण सम्मुख गिड़गिड़ाई थी पृथा तब,
'याचना जाए ना मेरी हे वरुण निष्फल वृथा तब;
हे पवन के देवता वसुषेन के रक्षक रहो अब,
नील नभ में रम रहे जो याचना मेरी सुनो सब !

'आपदाओं से बचाना मेरे शिशु को संकटों से,
अंक में अपने बसाए काल की सब करवटों से !
भूमि के हे देवता, वसुषेन के तुम साथ हो लो,
हो जहाँ पर कर्ण मेरा, तुम वहीं पर प्राण घोलो !'

''इस तरह कातर पृथा की याचना चलती रही थी,
और शिशु को ले पिटारी धार पर बहती रही थी;
चल पड़ा था मैं पिटारी की ही गति से, दृष्टि डाले,
शांत करता पवन, जल को, व्योम-भू सबको संभाले ।

''अंग की हे देवबाला, क्या कथा तुमसे बताऊँ,
और क्या विभु से छिपा है, आज जिसको मैं छिपाऊँ !
कब पृथा यह चाहती थी, हो कुँआरे में शिशु यह,
लोकलज्जा-हानि घर की, आयु का डर घोर रह-रह ।

''बहुत ही अनुनय किया था, लौट जाऊँ मैं वहाँ से,
मैं विवश रतिबद्ध, कैसे लौट जाता फिर वहाँ से;
रक्त की अठखेलियों से मैं हुआ वशीभूत था तब,
चित्त को अब जो डराता, मैं वही अवधूत था तब।

''तन गई थी रीढ़ तन की, एक बस आवेग हू-हू,
बुद्धि मेरी थी हवा पर, चेतना जलती थी धू-धू ।
शोर ऐसा हो गया था, सुन न पाया था रुदन को,
तोड़ आया था अभय बन शांति के पावन भवन को ।

''देह का यह आचरण सचमुच बहुत कुत्सित पतित है,
देवता के इस भयावह कर्म से दानव चकित है;
तब कहाँ था सूर्य मैं ही, जो तमस को लील लेता,
भाव मन में दौड़ता था सृष्टि का मैं ही विजेता ।

''याचना सारी पृथा की व्यर्थ ही जाती रही थी,
दोष मेरा ही कहो तुम; वह तो बिलकुल ही सही थी;
मृत्यु का यह लोक रस का, गंध का, छवि और लय का,
देह का रसमय निमंत्रण, हर हमेशा एक भय का ।

''मैं अवश-सा चेतना से दूर, कुछ था तो मृदा था,
सुर-लहरियों से बंधा मैं उस समय कैसा मृगा था;
हो गयी थी वह बहुत लाचार मेरे सामने में,
फेंक कर कुछ भय भरा-सा प्यार मेरे सामने में ।

''सह गई थी पाप उद्धत शील-भय से हो पराजित,
जो रहा तम में घिरा ही, भोर में वह आज भाषित;
पर नहीं मैं ही अकेला दोष का भागी यहाँ पर,
था बंधा ऋषि के वचन से मैं वहाँ पर ।

''आज मुझको लग रहा पर, हूँ पृथा से हीन-नीचे,
वह पुरुष सचमुच अधम है जो त्रिया पर तम उलीचे;
देवता का भय दिखा कर, कीर्त्ति का गुणगान गाकर,
मैंने कुन्ती को किया था बस विवश एकान्त पाकर ।

''किस तरह से गर्भ में सेती रही वह अंश मेरा
जो तुम्हारी गोद में है खेलता अवतंश मेरा !
यह जो शिशु की देह पर है कवच; कुण्डल कान में भी
क्या कभी सोचा है इस पर, क्या कभी कुछ ध्यान में भी।

''ये कवच-कुण्डल मेरी ही दी गई पहचान समझो,
यह पृथा का पुत्र ही है, तुम जिसे सन्तान समझो;
पर नहीं ऐसा समझना अंगराधा भूल से भी,
मैं यहाँ आया हूँ लेने पुत्र अपना, अंगदेवी ।

''जन्म पाया है पृथा से, दूध पीया है तुम्हारा,
कर्ण पर अधिकार उतना जितना कि इस पर हमारा;
गुरु बनूँ वसुषेन का मैं, अब यही बस चाहता हूँ,
क्यों न चाहूँगा भला मैं, जन्म मुझसे है, पिता हूँ।

''सारी विद्याएं सिखा कर लौट जाऊँगा, सुनो तुम,
मैं पृथा का पुत्र लूँगा, ऐसा कुछ भी मत गुनो तुम !
जो पिता का धर्म है, जो कर्म है, करना ही होगा,
रिक्त जो कुछ रह गया है, अब उसे भरना ही होगा ।

''पुण्य का क्षण आ गया है, हाथ कैसे रोक पाऊँ,
पुत्र को सब दान देकर भूमि अपनी लौट जाऊँ !
इस समय से, इस क्रिया से अंग का उत्थान होगा,
कर्ण मेरा एक दिन इस अंग का भगवान होगा ।

''शौर्य की इसकी कथा भू, गगन, जल, वायु लिखेगी,
आग भी भयभीत होगी-जब कभी आयु लिखेगी ।
अंग की बाला, सुनो तुम, कर्ण यह वसुवर्म ही है,
यह नहीं वसुषेन केवल, इस धरा का धर्म ही है ।

''पूर्व जीवन में यही इस लोक का नरश्रेष्ठ था यह,
आचरण के सब गुणों से ही सुगंधित बहुत महमह;
और फिर ऐसा हुआ घनघोर तम में लीन होकर,
पा लिया सानिध्य मेरा, देह की सीमाएं खोकर ।

''खुश हुआ तो वर यही मांगा 'मिले रविरूप अब तो,
और मुझको चाहिए क्या, जब मुझे है प्राप्त सब तो !
स्वर्ण के ये कवच-कुंडल दीप्त हों मेरे भी तन पर,
जिस तरह कि शोभते हैं आपके स्वर्णिम बदन पर ।

'मुक्ति मुझको प्राप्त होगी काल के बंधन-तमस से,
सब तरह के ताप से क्या, भयकरण चंचल वयस से ।'
''मैं विवश अपने वचन से, ले लिया निज लोक में था,
अब वही इस लोक का नर आके मेरे ओक में था ।

''रूप मेरा, वस्त्र मेरा, कवच-कुंडल एक जैसा,
स्वर्ग में तो आज तक देखा नहीं था साम्य ऐसा ।
घूमता नभ में विचरता; कुछ कहाँ प्रतिबंध क्या था ?
छुट गया था इस धरा से हर तरह का मोह इसका ।

''बाँटता था, जो इसे था प्राप्त ईश्वर से, अघा कर,
क्या कहें, कितना प्रफुल्लित था वो ऐसी देह पाकर;
जो मिला स्वभाव उसको था, उसी में लीन रहता,
हर घड़ी दुख-शोक के सर पर चढ़ा आसीन रहता ।

''एक दिन ऐसा हुआ पहुँची वहाँ ऋषि एक कन्या,
रूप-गुण में अप्रतिम थी, जो निस्सन्देह थी अनन्या।
देख कर वह मुस्कराई थी, इधर उत्तर नहीं था,
चाहती थी मन इधर हो, और उसका मन कहीं था।

''कुछ खुले से अंग उसके और फूलों से ढके थे,
फिर झुका क्या वह? भले ही देख यह तो सब झुके थे।
जब सुनी नरश्रेष्ठ की सखी से प्रशंसा, जल गई थी,
ईर्ष्या से एक क्षण में बुद्धि उसको छल गई थी ।

''दारु सूखे पर गिरी हो आग जैसे ही अचानक,
भ्रांत मति का हो उठा था नृत्य कैसा वह भयानक !
दे दिया अभिशाप तत्क्षण, नर बनो, नरलोक जाओ !
अब धरा के सुख-दुखों के बीच ही जीवन बिताओ !

''शाप तो फिर शाप ही था, क्या निवारण और होता,
कुछ कहीं होता अगर तो क्या न उस पर गौर होता ।
आ गया नररूप धर कर इस धरा पर, मैं विवश था,
कर्ण का इस जन्म में भी यश वही, पहले जो यश था।

''जन्म के ही साथ इसको कवच-कुंडल दे दिया है
हो मनोरथ पूर्ण इसकी, इसलिए ऐसा किया है;
अंगबाला, जो तुम्हें बालक मिला है, यह वही है,
कह रहा हूँ मैं तुम्हें जो, सत्य है, बिल्कुल सही है।

''रूप जितना भी अलग हो देह ले कर, गुण अटल है,
शेष सौरभ हो न जिसका कुछ कभी भी, वह कमल है।
कुछ दिनों तक साथ रख कर सौंप दूँगा मैं तुम्हें फिर,
क्योंकि कुंती ही नहीं, तुम भी तो हो माँ इसकी आखिर ।

''कुछ दिनों में कर्ण मेरा हर कला में सिद्ध होगा,
वीर तो ऐसा कि इससे काल भी जा बिद्ध होगा;
इसलिए हे अंगबाला, कर्ण को अब सौंप दो तुम,
कुछ दिनों के वास्ते बस। सोच में कुछ मत बहो तुम !''

ग्रीष्म में ज्यों मेघ की ठंडक बरसतीं व्योम से है,
याकि जैसे बह चली रस की नदी ही सोम से है;
पी श्रवण से शांत राधा बोल उट्ठी हो विमोहित,
''अब नहीं मन में कहीं कुछ भाँति-भय, सब कुछ तिरोहित ।

''देवता हे रश्मियों के, सोच में मैं क्यों बहूँगी,
पुत्र का कल्याण जिसमें क्यों न ऐसा दुख सहूँगी ।
कर्ण मेरा वीर हो, योद्धा विकट हो श्रेष्ठतम यह,
रोक लूँ मैं मोह कारण, नीचता है नीचतम यह ।

''यह नहीं मेरा ही सुत है, यह पृथा-गंगा का सुत है,
तब भला मैं न कहूँ क्यों, जो कि मंगल भावयुत है ।
देवता हे रश्मियों के, आप का सुत आप जैसा,
यह तो सुख संचार करता, इसमें तब हो ताप कैसा ?''

जो हुआ संवाद, पुलकित किस तरह से, हर्ष भी है,
हो रहा कर्पूर का मन, सब तरह से मर्ष भी है ।
फूटती हैं रश्मियाँ; ज्यों, हेम की छाई परत-सी,
सृष्टि सारी हँस रही है शोक-दुख से हो विरत-सी ।
सामने राधा खड़ी है सूर्य सम्मुख ही खड़े हैं,
एक जैसे भाव से वे जुड़ रहे हैं, वे जुड़े हैं ।

बीज पर्व
(सर्ग तीन)

रात्रि की निस्तब्ध बेला, मौन प्रहरी,
सो चुकी है दिवस की चिड़िया सुनहरी;
शांत वन हैं, जड़ हवाएं सरसरातीं,
चुप हैं चानन और गंगा, हरहरातीं ।

जागता है रात्रि के संग कर्ण केवल,
बुद्धि के संवाद से है चित्त चंचल;
घेरती बातें विगत की, नील-फेनिल,
किस तरह से रूप धरकर दीप्त, धूमिल ।

दृश्य सारे खुल रहे हैं उठ अतल से,
बोलती सुधियाँ बहुत हैं आजकल से;
क्या तुम्हें कुछ याद है, वसुषेन बोलो,
छिप रहे जो मन के कोनों में, टटोलो—

जागती जब रात की थी मध्य वेला,
कर्ण वन को जा निकलता था अकेला;
तीर, तरकश, धनुष कंधों पर उठाए,
तेज गति से, ज्यों कोई वन से बुलाए ।

हाँ, बुलाता ही कोई था बीच वन से,
दीप्त रवि-सा वह पुरुष वन सघन घन से;
नींद में बेसुध हुई-सी सृष्टि होती,
साधना तब लक्ष्य को सारे संजोती ।

जागता था गहन वन में कर्ण-कौशल,
हर घड़ी, हर क्षण लिए ही रूप प्रतिपल;
जागता था रश्मियों का पुरुष सम्मुख,
ले रहा आदेश जिससे कर्ण झुक-झुक ।

दे रहा आदेश जो था सामने से,
जागते थे सब, कहाँ कब अनमने-से ?
मुग्ध होती अंग की चम्पा न सोती,
रात भर भागीरथी सपने संजोती ।

रात भर आशीष देती थी हवाएं,
भोर होते सोचती किस कोण जाएं ।
जागती ज्यों रात की थी मध्य वेला,
जागता संकल्प के संग शौर्य-मेला ।

गूँजती टंकार पल-पल उस विजन में,
आँधियाँ उठती हुई-सी हवा वन में;
और क्षण-क्षण वाह के आशीष खुल कर,
पत्थरों के बीच बहता हो; ज्यों निर्झर ।

आ गई सुधि, विस्मृति की नींद ओझल,
खुल रहे हैं दृश्य सारे; दिवस झलमल
रोक लेते कर्ण को जब तात आकर,
बोध देता अंग की महिमा सुना कर –

''भूमि यह शृंगी, विभांडक, जह्नु की है,
यह न अष्टावक्र की ही, राम की है;
हाथ में जो हैं निरन्तर परशु धारे,
क्रोध में आए तो गिन-गिन कर संहारे ।

''अंग वह है, देश, गाधिसुत जहाँ के,
और दुर्वासा कहाँ के हैं ? यहाँ के;
जो तुम्हारे जन्म के नेपथ्य में हैं,
एक दिन जानोगे जो-जो सत्य में हैं ।

''माँ तुम्हारी तो पृथा ही, सत्य मानो,
और जिसको माँ कहो, वह धाय जानो !
पर कहाँ कुछ भी पृथा से कम कहूँ मैं,
कुछ अलग है पीर जिसमें ही दहूँ मैं ।

''मन कहे, कौन्तेय तुमको कह न पाता,
बस मुझे राधेय पर है खींच लाता;
हो रही होगी भी कुन्ती कम दुखी क्या,
इस जगत में देवता भी है सुखी क्या !

''वृष्णिकुल की जो पृथा, सम्पन्न श्री से,
पुत्री कुन्ती भोज की, कुन्ती इसी से;
धन्य है धन्या यहाँ की, कुंती-माता,
यह कथा बन कर रहेगी लोकगाथा।

''तुम उसी के पुत्र हो, सुन वत्स खुल कर,
पुण्य होता जा रहा दुख-दाह घुल कर;
वत्स मेरे, मैं तुम्हारा ही पिता हूँ,
तुम धरा के रवि बनो, मैं चाहता हूँ ।

''कर्म का यश, ज्ञान का यश, राज का यश,
हो तुम्हारी मुट्ठी में । सब दूर अपयश ।
मोह न बांधे तुम्हें धन-राज का ही,
तुम सिंहासन पर रहो संन्यासी-सा ही ।

''अंग के तुम भूप होगे, यह तो निश्चित,
पर भुलाना तुम नहीं ये बात किंचित;
अंग के अनुकूल सारे आचरण हो,
इस धरा पर स्वर्ग का फिर संचरण हो ।

''सारी विद्याओं-कलाओं से भरे तुम,
अब रहोगे क्या किसी के आसरे तुम ?
जिस तरह से अस्त्र का संधान करते,
प्राप्त करते फल, गुरु का ध्यान करते।

''शूल हो कि हो शतघ्नी, हस्तिवारक,
प्राश हो कि प्राशिका हो या कि हाटक;
कुन्त हो या हो कणय, या और तोमर,
या गदा-संपृक्तला हो, या कि मुद्गर;

''धनुष चाहे ताल हो, शारंग, दारव,
चाप ही वह क्यों न हो जो दिव्य नव-नव,
कार्मुक, कोदण्ड द्रुण जिस भार में हो,
वेणु, या नाराच हो; लाचार में हो ।

''ब्रह्म के ही तेज से सम्पन्न हो तुम,
ब्रह्म के ही तेज से उत्पन्न हो तुम;
कर्म से और वंश से तुम क्षत्रिय कुल के,
लाल हो तुम संत अधिरथ के दुकुल के ।

''सृष्टि की श्री-सम्पदा होगी चरण पर,
देवता रीझे तुम्हारे आचरण पर;
पर कभी जो भूल से भी भूल होगी,
तब कोई क्या शक्ति भी अनुकूल होगी ?

''इसलिए सुधि नीति की, न संग छूटे,
देवता के कर्म की लय जा न टूटे;
यह धरा संतप्त है अगिणत दुखों से,
जिसको भरना है तुम्हें सारे सुखों से ।

''वह जो सबसे दीन है और दलित है जो,
पर सुकर्मों से सुधामय ललित है जो;
उसकी रक्षा में तुम्हारे प्राण अर्पित,
जो मुझे था, कर दिया सारा समर्पित ।

''और जो आगे मिलेगा, साधना से,
माँ, पिता, गुरु की मिलित आराधना से;
अंग की पावन ये धरती हो समुज्जवल,
स्वर्ग के सुन्दर सरोवर में, ज्यों उत्पल ।

''भूमि, वन, नदियाँ, हवाएं सुख से सिहरे,
आज से न प्राणियों के प्राण हहरे;
अब तुम्हारी रश्मियाँ ही घेर ले जग,
हो जहाँ तक, उस जगह पर ज्योति जगमग ।

''हो निशा के वक्ष पर शशि पूर्णिमा का,
देवता-सा हो हृदय पुलकित अमा का ।
लौट आए सत्य का युग देह धारे,
उठ अतल से प्राण-आज्ञा के सहारे ।

छिप गया था सूर्य तब तत्क्षण अचानक,
फैलता आलोक था; ज्यों ब्रात-ब्राजक;
दीप्त तम में रश्मियों का वह पुरुष था,
था कभी न, आज वह, जैसा कि खुश था ।

देह में जैसे प्रकट हों देव सारे,
सारी ऋतुएं ही प्रकट उसके सहारे;
घाम, वर्षा, शीत संग मधुमास जिसमें,
शरत का, हेमन्त का कलहास जिसमें ।

जुगनुओं से झूलते; ज्यों, काल सब थे,
चित्र से अंकित लगे दिकपाल सब थे;
मुँद गई हैं कर्ण की आँखें विभा से,
दीप्त हैं पूरा सघन वन ही प्रभा से ।

और जब आँखें खुलीं तो कुछ नहीं है,
जो घटा, वह झूठ था या फिर सही है !
कर्ण कुछ भी सोच न पाता जरा-सा,
हर्ष से पुलकित, सुखों से है भरा-सा ।

सोचता है जोर देकर, कर्ण मन से,
''क्या पिता ही थे, अभी उतरे गगन से ?
रश्मियों के देवता का अंश हूँ मैं ?
इस धरा पर देवकुल का वंश हूँ मैं ?

''पर, नहीं, यह सोचना भी पाप होगा,
मृत्य मानव के लिए अभिशाप होगा ।
और जो मैं सच? दिखा जो, झूठ था क्या ?
आँख से देखा हुआ है, कैसे मिथ्या!

''जो नहीं माता पृथा, तो क्यों लगा यह,
देह को सहला रही हो कोई रह-रह !
क्यों अचानक माँ की ममता से बँधाया,
एक पल में पा गया, जिसको न पाया ।

''आज जो कुछ जान पाया, क्या सही है ?
क्यों गगन चुप है ? पवन, जल या मही है ?
जो नहीं । वह कौन थे ? कैसा वचन था ?
जिनमें सारी भूमि थी, सारा गगन था।

''मोह मेरा ? भ्रांति मेरी ? क्या हुआ था ?
एक क्षण में क्या से-क्या मुझको लगा था !
जो गुरु हैं, वह पिता हैं; क्या ये सच है ?
किस द्विधा का आज हृद में शोर-वच है ?

''पूर्ण शिक्षा हो गई है, पर अभी भी,
आँख से ओझल नहीं होते कभी भी ।
बस यही लगता, खड़े हैं सामने में,
क्यों हुआ धोखा मुझे यह जानने में ?

''क्या नहीं आश्चर्य है यह, सोचता हूँ,
बोलते थे मेरे मन की, मैं यथा हूँ;
'उस दिशा में अस्त्र फेको, वनरहित है,
वह उधर है वृक्ष, जो कलरव सहित है ।

'उस तरफ वनराज के शावक दिखे थे'
पढ़ रहे थे मेरे मन पर जो लिखे थे;
किस तरह पढ़ते गये थे मेरे मन को,
चाँद जैसे जानता सारे गगन को ।

''यह जो मुझमें द्वन्द्व की है आज हलचल,
खिल नहीं पाता है मन का श्वेत शतदल;
क्या नहीं यह ज्ञात होगा, तात को ही ?
शील के विपरीत मैं हूँ आज द्रोही ।

''पर उठा जो द्वन्द्व है, यह भी तो सच है,
पीर है मेरे हृदय की जो अवच है;
खींचता है कौन पीछे से मुझे यह ?
कौन चन्दनवन, अरे कैसा कमलदह ?

''भर गये रश्मिदिविषद चाह मन में,
इस अमा में चाँद कैसे है गगन में ?
पक्ष बीते, माह बीते, और वत्सर,
आज भी यह बोध उनके हाथ सर पर ।

''यह नहीं भ्रम, सत्य है, कुछ और ऊपर,
देवता थे, आए थे बन तात भू पर ।
और फिर शंका वही मन तोड़ जाती,
तप्त मरु में, दोपहर में, छोड़ जाती ।

''भर भुवन में ज्यों अकेला हो गया हूँ,
आग की ही सेज पर मैं सो गया हूँ;
कौन मुझको द्वन्द्व से बाहर करेगा ?
कष्ट मन का है; कोई तपसी हरेगा ।

''सौ कलाएं तात मुझको दे गये, पर,
फेंकता है कौन मन पर वज्र-वामर ?
मुक्त होना ही पड़ेगा, भूत-कर से,
आ रहा जैसा निमंत्रण हो उधर से ।

''यह अगति है, मोह में बँध कर तड़पना,
अंधकारा को मुझे होगा छड़पना;
अन्यथा मुझको यही अब लील लेगा,
मोहगंगा है तो क्या सरसिज खिलेगा ?

''क्यों पड़ूँ मैं इस द्विधा में, इस कथा में,
कौन-सा आनन्द बसता इस व्यथा में ?
मैं तो हूँ राधेय, अधिरथपुत्र हूँ मैं,
बस इसी पहचान से सर्वत्र हूँ मैं।''

और आईं यादें सब बातें विगत की,
जेठ के दिन और वे रातें शरत की,
मन में उठते मेघ काले, बिजलियाँ ले,
फिर तुरत मधुमास आता तितलियाँ ले,
गूँजता यह मन-हृदय किस शोर से है ।
बँध गया-सा कर्ण किसकी डोर से है ?

चन्द्रातप पर्व
(सर्ग चार)

''अब रही किस बात की चिन्ता है, राधे,
किस तरह से सकल आयुध कर्ण साधे !
काँप जाती हैं दिशाएं, काल कम्पित,
वायु-जल क्या, नभ-धरा क्या, अग्नि विचलित।

''दौड़ता है रक्त जब उसकी शिरा में,
आग लग जाती है तत्क्षण ही हवा में;
रक्त का आवेग कैसा फूटता है,
जब कभी कोदंड से शर छूटता है ।

''ज्यों शिला को ही यतन से काट करके,
कर्ण की काया बनी है, प्राण भर के;
कर्ण की काया कि जिसमें रश्मि दिन की,
ज्यों उजागर हो विभा की राशि, किनकी ?

''हाँक देता, तो लगे, ज्यों मेघ गरजे,
विघ्न कोई हो, इशारे से ही बरजे;
धीरता और वीरता का कर्ण मेरा,
दूर है मुझसे बहुत मेरा अँधेरा ।

''सोचता था, भाग्य में मेरे लिखा क्या,
देखना था क्या मुझे, लेकिन दिखा क्या !
राजकुल, अपने पिता से जो मिला था,
भेद न पाया कोई, ऐसा किला था ।

''वह बिखरता जा रहा था सामने में,
शेष सब कुछ हो रहा था नापने में;
राजकुल वह वंश मेरा छुट रहा था,
किस तरह मैं साँस रहते घुट रहा था ।

''मुझमें शोणित राजकुल का है उमड़ता,
पर यही लगता, निरन्तर मन में जड़ता;
मैं वृहत्मन-अंश, सत्या-सत्य हूँ मैं,
मर्त्य था मैं अब नहीं पर मर्त्य हूँ मैं ।

''एक ऐसा भय कि जो मुझको डराता,
अन्त कुल का स्यात अब है निकट आता;
वय हुआ संन्यास का पर गोद खाली,
स्यात विधि ने राह मेरी ही निकाली ।

''दे दिया है कर्ण-सा सुत, अब कहाँ डर !
फूटता मरु में सुधा का स्रोत निर्झर !
अब कुसुम के भार से है शूल नीचे,
यह वयस मुझ पर नहीं चिन्ता उलीचे ।

''राजकुल की नींव हिल कर रुक गई है,
वाम हो कर नियति फिर से झुक गई है;
अंग की यह राजगद्दी, यह सिंहासन,
चाहता हूँ, शीघ्र ही हो कर्ण-आसन !

''और आए दिन सुयश के, अंग के वे,
दीन का यह भाव क्यों अब और सेवे;
कीर्ति जो है अंग की सिमटी हुई-सी,
दीप्त हो दमके अभी से, अब नई-सी ।

''चाहता हूँ कर्ण पर अब भार सौपूँ,
जो मिला है अंग का संसार, सौपूँ;
और ऐसी चाह है, तो क्या बताऊँ,
क्या छुपाया आजतक है, जो छिपाऊँ ।

''जब भी देखा कर्ण को, कुछ अलग देखा,
हर क्रिया के मूल में संन्यास-रेखा ।
राज की आसक्ति देखी न कभी भी,
शून्य में बेसुध भटकता गंधजीवी !

''जब कभी कहता हूँ, जाओ, राज देखो !
कल सँभालोगे जिसे तुम, आज देखो !
दे कहाँ उत्तर ! रहा है मौन अक्सर,
जा रहा है पूर्व-सा ही वृद्ध वत्सर ।

''और हम चुपचाप बैठें; क्या उचित है ?
बीतने को अब वयस भी तो त्वरित है;
क्या कभी है भाव देखा, कर्ण का वह ?
जो उसे बाँधे ही रहता खींच अहरह ।

''दुर्ग से हो दूर क्या खोजे विपिन में,
देर तक ही; रात में भी और दिन में;
मैं सशंकित आजकल हूँ सोचकर यह,
कर गया कुछ रश्मियों का ही पुरुष वह ।

''क्यों नहीं पुर-वेधशाला में सिखाया ?
अस्त्र-कौशल मेघवन में ही बताया ?
क्षत्रिय है, सत्ता सँभाले राजहित में;
देश का गौरव कहाँ है, शर नमित में !

''कर्ण का कुछ आचरण मुझको डराता,
एक भय उठता है, मन को बेध जाता;
बात करता वृक्ष से यूँ, ज्यों सगा है,
इस समय में रोग यह कैसा जगा है !

''यह विरागी भाव, क्या है देश-हित में ?
उम्र पर संन्यास शोभे, जगविदित में;
चाहता हूँ रास्ता ऐसा निकालूँ,
क्यों न चम्पा का सिंहासन सौंप डालूँ !

''राज में मन लग गया, तो दुख कहाँ है,
तब कहाँ फिर धुंध या फैला धुँआ है ।''
चुप हुए अधिरथ सुना कर मन सशंकित,
हो गये थे इस तरह, जैसे सुरक्षित ।

एक क्षण राधा रही चुप सुन सभी कुछ
और फिर बोली, ''बचा है क्या अभी कुछ ?
कुछ नहीं ऐसा कहीं है, मोह-भय है,
इसलिए ही गरल-सा दिखता अमिय है ।

''राजगद्दी ! ऐसी भी क्या हड़बड़ी है ?
कर्ण के आगे अवधि लम्बी पड़ी है;
है समस्या राज की सम्मुख खड़ी है,
पर नहीं क्या राज से विद्या बड़ी है ?

''कर्ण ने सीखा है जो कुछ और सीखे,
दिख रहा जैसा अभी कुछ, बढ़ के दीखे;
किस तरह से दीपता है पुत्र मेरा,
पाँवों के नीचे छुपा है घुप अंधेरा ।

''और बढ़ने दो अभी बाहु-वयस को,
एक अँगुली थाम ले हँसते ही दस को !
राज का यह भार कोई और देखे,
भार भारी तो नहीं उतने मही के ।

''श्रेष्ठ है नर, जो गुणों से है विभूषित,
वह अधम है, जो नरोचित गुण से वंचित;
राज उसको शोभता है, जो विभासुत,
देवताओं के गुणों से पूर्ण अच्युत ।

''कर्ण अच्युत है, विभासुत, पुत्र मेरा,
देखता हूँ नाथ का है भ्रांत फेरा;
अंग को ऐसा प्रजापालक मिलेगा,
इस धरा से स्वर्ग तक भी आ मिलेगा ।

''स्वर्ग का जो कवच-कुण्डल तन पे धारे,
चल रहा क्षत्रित्व जिसके ही सहारे;
जो कलुष दिखने लगा है; तारणा है,
विप्र के सारे गुणों को धारणा है ।

''ज्ञान से वंचित सिंहासन मात्र आसव,
शोर को बनना अभी है भोर-कलरव;
ज्ञान है तो शक्ति का साम्राज्य विस्तृत,
उस किरण, आलोक के बिन भाग्य विरमित ।

''शक्ति का संचार केवल, पाप ही तो,
कामना कर ले रहा नर शाप ही तो;
क्या नहीं है ज्ञात घर की ही कथा सब ?
घेर लेती है अभी भी उठ व्यथा सब ।

''यह सिंहासन, राजगद्दी ज्ञान के बिन,
पीठ पर फुँफकारते-से नाग-नागिन;
मैं नहीं अब चाहती यह अंश मेरा
और भी झेले हृदय का दंश, मेरा ।

''राजसत्ता है प्रजाहित, तो सँभाले,
भार भूतल का सभी मिल कर उठा ले;
कर्ण गुरुकुल में रहेगा शिष्य बन कर,
एक दिन आयेगी निश्चित ज्योति छन कर ।

''जो भी करना है उसे सब कुछ सँभल कर,
राजकुल में ही रहे, पर व्रात्य बन कर;
कर्ण के यश से धरा यह धन्य होगी,
यह सिंहासन जब दिखेगा—शांत योगी ।''

सुन प्रिया की बात अधिरथ-मन शरत-सा,
मोद पूरित कह उठा, दुख से विरत-सा ।
ठीक ही तुमने कहा, मैं भी हूँ सहमत,
बन रहे हैं भाव मेरे पुष्प-अक्षत ।

''राजगद्दी-राजसत्ता, ज्ञान के बिन,
ज्यों रुधिर का पान करती मत्त डाकिन;
चन्द्रिका बरसेगी, तो रजनी हँसेगी,
किस तरह से कालिमा फिर तो डँसेगी ।

''मोह के विष को अभी मैं तेजता हूँ,
कर्ण को गुरु की शरण में भेजता हूँ;
और गुरु भी वह, जगत में अप्रतिम जो,
अंग के गुरुओं में आगे हैं; महिम जो।

''जिनसे शोभा पा रहा मंदार पर्वत,
साधु-सा, गिरि साधना में लीन हो रत;
परशुधारी राम का आश्रम वही है,
ज्ञान से जिनके अखिल उज्जवल मही है ।

''दर्प क्षत्रियों का किया था धूल, रज-कण,
शक्ति का हो शील से ही योग, यह प्रण;
जब भुजा की शक्ति का हो ज्ञान सेवक,
शील की सारी शिराएं—प्राण धकधक ।

''क्यों न जागे तब भला ही ज्ञान का बल,
इस धरा को ज्ञानियों का ही तो संबल;
परशुधारी राम का है ज्ञान ऐसा,
ज्यों शरद की पूर्णिमा का चाँद जैसा ।

''कल ही लेकर कर्ण को मैं निकल जाऊँ,
रात होने के ही पहले लौट आऊँ !
हाँ, यही अच्छा भी होगा, भोर होले,
रात अपनी लालिमा के पंख खोले ।

''रथ चलेगा वायु संग दक्षिण दिशा में,
स्वाप सुन्दर दृष्टि-पथ पर ज्यों निशा में
देखता हूँ श्याम नभ पर भोर का मन,
दृष्टि के जो भी हैं सम्मुख, बहुत पावन ।''

मोह मन का छट गया संवाद से है,
प्रेय हो या श्रेय, इसके बाद से है ।
शांत है राधा, नहीं अब भ्रांत मन है,
खंजनों को देख नभ से दूर घन है ।

प्रज्ञा पर्व
(सर्ग पाँच)

''अहो! अचानक अंगभूप, क्यों आना हुआ यहाँ पर ?
आ पाते हैं सिर्फ पवन ही, खग ही, मेघ जहाँ पर !
तपियों का यह स्वर्ग, धरा पर निधि-सा मंद्राचल है,
मोक्ष-मुक्ति का धाम, स्वर्ग का खिलता नील कमल है!

''भूपति, यहाँ पहुँचने का कोई तो कारण होगा ?
कहो प्रजापति, सब कुछ खुल कर तुरत निवारण होगा!
पर किशोर यह कौन साथ में, इसको क्यों लाए हो ?
कुछ तो बात निःसंदेह होगी, ऐसे जो आए हो ।

''बोलो अधिरथ, अंग के मुकुट, अंगभाग्य, अवनीश्वर,
जिसका यश ही अग्नि, हवा, जल, गाते रहते अंबर;
कौन कामना चाह यहाँ तक सीधे ले आई है ?
कहीं नहीं कुछ सरल जहाँ, पर केवल कठिनाई है ।

''अगर चाहते, तो ले आते रथ को ही तुम ऊपर,
कौन सारथी हुआ तुम्हारे जैसा ही इस भू पर !
पर चल कर ही आए मुझ तक, विस्मय क्यों न होता,
कोई और यहाँ होता, तो निश्चय संशय होता ।

''बोलो नृप, संकोच करो मत, निश्चय मंगल होगा,
जहाँ सूर्य का पुण्य, वहाँ क्या ठहरा काजल होगा ?
मधुसूदन का लोक अमर है, अमृत का यह घर है,
इच्छा के उठने से पहले जहाँ सँघरता वर है ।''

मुनि के आशीर्वादों से तन-मन लगता है तीरथ ।
परशुराम के चरणों पर तब नत सर होकर अधिरथ,
बोले, ''धन्य हुआ, हे देव, तपस्वी, मुनिवर, ऋषिवर,
त्याग, तपस्या, व्योम-शिला पर मणि के अंकित अक्षर ।

''यह मेरा सुत कर्ण, गुणों का कोश-व्योम है मुनिवर,
निज कर्मों से सूर्य, वचन से शरद-सोम है, मुनिवर!
गुरु की सेवा, होम-जाप, सब विद्या का अनुरागी,
क्या अतिथिपूजन ही प्रिय है? यह निष्काम विरागी ।

''ब्रह्मचर्य के सारे सदगुण देखा खिलते, इसमें,
भव्य त्रिपुर में जो कुछ सुन्दर, सब मिलते हैं इसमें;
यहाँ आपकी छाया में पाए प्रकाश यह, ऋषिवर,
सब कुछ झेल चला आया हूँ लिए आश यह, ऋषिवर।

''वेदों का ही नहीं, अस्त्र का मेरा सुत हो ज्ञाता,
निज भविष्य और बाहु-भाग्य का अब से बने विधाता!
क्षत्रिय है तो छात्र धर्म भी इसमें दिखे अनल-सा,
दान-दया के साथ-साथ ही हो शरदेन्दु विमल-सा ।''

सुन कर सारी बातें बोले मुनिवर अमृत स्वर में,
वीणा के कुछ तार हिले हों, जैसे कि अंबर में—
''जो कुछ कहा सत्य है, इसमें कुछ भी झूठ नहीं है,
हे अंगेश, दृष्टि से मेरी कुछ क्या छिपा कहीं है ?

''यह किशोर, यह बालक अपना परिचय स्वयं कहेगा,
छोड़ इसे दो, यहीं आज से मेरे साथ रहेगा !
सीखेगा वह सभी कलाएं जो अलभ्य है नर को,
और बहुत कुछ, ज्ञात नहीं जो ऊपर किसी अमर को।''

अधिरथ की कुछ रही नहीं सीमा खुशियों की पल में,
शंकाएँ सब दूर हुईं, जो छुपी हृदय के तल में;
नवा शीश को जोड़ लिया अपने दोनों कर ऐसे,
नभ में उदित सूर्य के सम्मुख कुमुद झुके हों जैसे ।

मन पर पड़े हुए संशय का, दुख का भार हटा है,
अब तो तम के रोम-रोम में फैली हुई छटा है;
कहा, ''प्रभो, आदेश करें, तो मैं प्रस्थान करूँ अब,
इस चिंता से मुक्त हुआ, तो पुर का ध्यान करूँ अब।''

देने को आदेश और आशीष, उठे कर मुनि के,
प्राण हुए जाते थे ऐसे; ज्यों सित निर्झर मुनि के ।
चरण कर्ण ने छूए मुनि के और पिता के, प्रमुदित,
रोमांचित था मंद्राचल, तो दशो दिशाएँ हर्षित ।

फिर कुछ क्षण ही बाद नाद घरघर का उठा गगन में,
सिहरन दिशा-दिशा में, जल में, थल में, और पवन में;
उत्तर दिशि में बढ़ा नाद वह, नभ से हुआ तिरोहित,
उछला था जो अभी-अभी वह जल में मीन अलोपित।

लेकिन उधर शान्त आश्रम में मुनि-संवाद सजग है,
नवालोक से मुग्ध कर्ण का मानस-मन जगमग है ।
सिर्फ शयन का काल मौन होता है गिरि-आश्रम में,
और नहीं तो एक ज्ञान का राग कुहुक पंचम में ।

लेटे-लेटे या चलते मुनि भेद सभी बतलाते,
और क्रिया में उन्हें ढाल कर तत्क्षण ही दिखलाते ।
सभी विधाएँ उठ-उठ कर तल से बाहर हैं झिलमिल,
नीड़ों में सब छुपे हुए खग डाली पर हैं रोमिल ।

परशुराम का बरस रहा है स्नेह कर्ण पर ऐसे;
चतुर्मास में मेघ बरसता नभ से भू पर, जैसे;
अब अलभ्य क्या दिव्य अस्त्र के संचालन की शैली,
बिखर रहे हैं रत्न मनोहर, खुली पड़ी है थैली ।

इन्द्र, वरुण, ब्रह्मा के अस्त्रों के सब भेद निराले,
ऐसा कोई शिष्य नहीं जो आसानी से पाले;
लेकिन वे सब निरावरण हैं आज कर्ण के आगे,
असमंजस में प्राण, किसे ले और किसे वह त्यागे ।

परशुराम के हाथ खुले थे, मन-मानस भी वैसे,
छूकर ही मधुमास वकुल के हर्ष खुले हों जैसे ।
साम और ऋग-यज अपने से अपना अर्थ बताते,
गज, घोड़े, रथ के रहस्य की चुन-चुन कथा सुनाते ।

मंद्राचल के इस एकान्त में ज्ञान-स्नेह का उत्सव,
जिसको पाकर प्राण कर्ण के करते रहते कलरव;
सुधियों ने है घेर लिया रविसुत को धीरे-धीरे,
एक-एक कर रंगों से मानस में चित्र उकेरे—

''अति उदार गुरु का मन शीतल, रस से भरा-भरा है,
इसीलिए तो मंद्राचल की भूमि मधुर, मधुरा है ।
ऐसे थे गुरु द्रोण कहाँ कब, भले ज्ञानपूरित थे,
शशि को श्यामविन्दु घेरे था, उज्जवल थे, अति सित थे।

''उनका तो बस पुत्रमोह ही ज्यादा हुआ उजागर,
कितना ठगा हुआ लगता था उनके पास पहुँच कर;
और ज्ञान का कहाँ भला परिवेश वहाँ था सचमुच,
जो प्रकाश का पुंज लगा था, मात्र धुआँ था सचमुच ।

''यहाँ प्रकृति की खुली-खुली ही बस आभा दिखती है,
अभिरामा की दृष्टि जिसे पीने बरबस झुकती है;
ऊँचे-ऊँचे वृक्षों की यह छाया मधुरिम फैली,
गुरु के जीवन-से ही जैसे मिलती-जुलती शैली ।

''अब मैंने यह जान लिया है आखिर ज्ञान कहाँ है,
जहाँ प्रकृति की सस्मित छाया, निश्चित वहाँ-वहाँ है;
जिस ज्ञानी का ज्ञान महल के भीतर ही है रमता,
उसके भीतर बुद्धि-विभा की कितनी होगी क्षमता !

''राज कृपा से जिनका जीवन-मन होता अनुशासित,
फिर तो राजमुकुट से होगी, निश्चित मति-गति बाधित।
अपने और पराये का गुरु भेद करेंगे निश्चय,
अँगूठे का ले दान भक्ति में छेद करेंगे निश्चय।

''अक्षम को सक्षम कहने की होगी तब चालाकी,
खुले हुए हैं भेद, छुपा है क्या कहने को बाकी ?
लेकिन यहाँ लगा कि गुरु की दुनिया बहुत अलग है,
एक साथ शशि-सूर्य-विभा से भूतल ही जगमग है ।

''जब भी कुछ अवकाश मिला, कुछ कहते, नया बताते,
और नहीं तो आश्रम में ही संग-संग आते-जाते ।
सोने से पहले कुठार की कभी कथा कुछ कहते,
'सुनो कर्ण, है परशु तभी तो क्षत्रिय वश में रहते ।

'इसी परशु से जाने कितनी बार झुके हैं क्षत्रिय,
ज्ञान और बल से ही होता शमन भुजा का निश्चय;
जब भी अमृत हुआ भुजा का दर्प क्रूरतम घाती,
खिले कुसुम के लिए बहुत; ज्यों, बालक हो उत्पाती ।

'इसी परशु का भय दिखलाकर बल का शमन किया है,
ज्ञान और भय दोनों से धरती को त्राण दिया है ।'
''फिर कहते हैं 'कर्ण एक तुम क्षत्रिय पूत अमल हो,
और विप्र के श्रेष्ठ गुणों से उज्ज्वल-शुभ्र-धवल हो ।

'ज्ञान सेतु है सिद्धि-शक्ति का, शान्ति और समता का
इसके बिना कहीं कोई भी देश नहीं टिक सकता'
बुद्धि अगर कलुषित हो समझो संकट आने वाला,
तो फिर नहीं देवता भी है उसे बचाने वाला ।

'ज्ञान बुद्धि है, सद्विवेक है, न्याय-विहग का कलरव,
शास्त्र बिना तो अस्त्र, शक्ति के हाथों में है आसव ।'
''मिथ्या क्या है, जो कुछ भी कहते हैं मुझसे गुरुवर,
घुमड़ी हैं ऐसी बातें ही मेरे भीतर-भीतर—

''राज-सिंहासन-छाया में जब ज्ञानीमन ही सोए,
बुद्धि, मनीषा, चिन्ता, मति ऐसे ही क्यों न रोए !
गुरु तो वही, गगन मन जिनका, ज्ञान; वृक्ष का फल हो,
राजनीति से दूर अमल जीवन निर्मल-निश्छल हो।

''गुरु वह शोभित, झुका स्वर्ग हो जिनके द्वय चरणों पर,
जिनकी वाणी गंगा-सरयु, स्नेह; शैल का निर्झर;
गुरु तो वही, शिष्य में अपना विधु-सा रूप बिठाए,
बिना गढ़े इतिहास कभी भी आगे बढ़े न जाए ।

''गुरु ऐसे हैं, सुधि भर से ही मन चन्दन हो जाता,
मलयानिल को बहते रहते मैं प्राणों में पाता;
मैं ही क्यों, ये वृक्ष धरा से ऊपर-ऊपर आते,
आखिर किनकी छाया में शीतल छाया ये पाते !

''इन गर्वीले वृक्षों के प्राणों-सा ही तो, गुरुमन,
आश्रम को ये बना रहे हैं कब से अक्षय मधुवन !
गुरु के आश्रम के लायक ही सचमुच में है गिरि यह,
क्षीर नदी के संग कानन, तो दिखता कहीं कमलदह ।

''कौलगंग को छोड़ यहाँ पर क्यों आए हैं गुरुवर,
सचमुच में मंदार धरा पर फैला स्वर्ग मनोहर ।
अब भी मंथन के उठते हैं लय में नाद अतल से,
गिरि, वन, नदियाँ, और पवन, नभ बनते ज्यों चंचल-से।

''अब भी इस्थिर दशो दिशाएं लगतीं नाद वही सुन,
फेंक रहा हो ज्यों पयोधि ऊपर रत्नों को चुन-चुन ।
लहराता हो शेषनाग ही अब भी नीचे-ऊपर,
मंथन क्या, ज्यों युद्ध सजा था भारी भूतल भू पर ।

''हाँ, सचमुच ही युद्ध मचा था चुपचुप सुर-असुरों में,
भीषण आग लगी थी जैसे बस्ती, फूस-घरों में ।
रुका द्वन्द्व, पर भूल हुई थी यही समझना किससे ?
क्या विकास की राह खुलेगी ऐसे ही ? बस इससे ?

''श्रम का हिस्सा अगर बराबर सबमें नहीं बँटेगा,
होगा ही संग्राम, किसी का धड़ से शीश हटेगा ।
और हलाहल जब निकलेगा, बोलो कौन बचेगा ?
जो कुछ हुआ, नहीं क्या इससे बोलो लोक हँसेगा !

''मन हो मधुसूदन के जैसा फिर तो जो भी चाहो,
पार नहीं है सुख का कोई, जितना जी हो, थाहो ।
यही नदी है क्षीर नदी, यह विष्णुलोक मंद्राचल,
इसीलिए तो दिखता इतना यह अशोक मंद्राचल।

''क्षीर नदी; ज्यों, उतर आ गई सचमुच स्वर्ग-नदी हो,
धवल चाँदनी की गंगा ही जैसे उमड़ी-सी हो;
मधुसूदन के मोद-रास का मणिमय यह तो आश्रय,
उनकी महिमा की विराटता का सिमटा-सा आशय ।

''भृगु आए थे यहीं प्रजापति-शिव को ही शापित कर,
देखा मधुसूदन हैं रस में, तो फिर ऋषिवर झामर ।
मन पर चोट पड़ी उनके, विश्वास-भंग था अब तो,
पीत-श्वेत से जो दप-दप थे; श्याम-रंग था अब तो ।

''उठा चरण को विष्णु-वक्ष पर मारा तत्क्षण कसकर,
मधुसूदन ने लिया चरण को दोनों कर में हँस कर,
और कहा ऋषिवर को हौले 'चोट नहीं तो आई,
क्षमा चाहता हूँ, मैंने जो पीड़ा है पहुँचाई ।'

''समझ गए क्षण में ऋषिवर भी महिमा मंद्राचल की,
जहाँ शक्ति-संग शांति-विभूषित होती इस भूतल की;
समझा ऋषि ने क्षमा तेज से होती बड़ी भुवन में,
और यही तो यहाँ बसी है जन-जन के ही मन में ।

''मुझसे जो अपराध हुआ था, वह अनजाने में ही,
जगा गए था गुरुवर को बहते निज शोणित से ही;
भले धीरता मेरी हो, पर थी तो वह भी अति ही,
क्रोधित निश्चित हो जाएंगे, भले रहें वह यति ही ।

''अति ही दुख का और क्रोध का कारण यहाँ भुवन में,
और यही मणि का वैभव ले जमा हुआ हर मन में;
जब तक उससे मुक्त नहीं होता है मानव का मन,
मुँह पर पुता मिलेगा बन कालिख, आँखों का अंजन ।

''गुरु की पीठ लहू से लथपथ थी, जंघा भी मेरी,
उतरी थी आँखों में मेरी कैसी रात घनेरी;
चमक रहे थे नेत्र उधर खिलते पलाश-से, गुरु के,
हर लेने को प्राण तुरत ही छुटे पाश-से, गुरु के ।

''छू कर मुझको निकल गया था; जैसे, यम ही औचक,
नदी, दिशाएं, पर्वत, वन, नभ सब के सब थे भौचक;
उतर गए गुरु की आँखों में फिर तो मेघ सजल थे,
रुके हुए पलकों के कोरों पर कितने ढलमल थे ।

''धन्य भूमि यह, धन्य यहाँ के लोग शील से शोभित,
बाँहों में है शक्ति खेलती, नेत्र नहीं पर लोहित;
यहाँ योग का जन्म ही नहीं, योग फूलता-फलता,
इसीलिए तो सागर-मंथन का भी पंथ निकलता ।

''अहंकार से मुक्त, वायु के साधक, अंगनिवासी,
इनके लिए जगत का वैभव माया, घोर उदासी;
सब कुछ छोड़ यहाँ गुरुवर हैं, कारण खुला हुआ है,
अंगदेश के नर का मन अमृत से धुला हुआ है ।''

और तभी गूँजा सितार का स्वर, समीर पर छाया,
सुधि में खोया कर्णश्रवण से बन पराग टकराया—
''कर्ण कहाँ हो'' परशुराम का स्वर फिर से लहराया ?
बैठा वकुल वृक्ष के नीचे कर्ण तुरत ही आया ।

चरणों पर झुकने वाला था, गुरु ने उसे उठाया,
बाहों में भर अतुल स्नेह से फिर तो हृदय लगाया;
रहे मौन ही क्षण भर निश्छल, आँखें बन्द किये ही,
स्वर्णवक्ष को खुले हृदय पर वैसे लिए-लिए ही ।

फिर कहने वह लगे, ''कर्ण, अब काल पूर्ण होता है,
गुरु प्रहार हो तप का, तो फिर क्या न चूर्ण होता है ?
तुमने सीख लिया है सब कुछ जो अलभ्य है, दुर्लभ,
समझो सभी तुम्हारे वश में, कुछ भी नहीं असंभव ।

''लगन-साधना देख तुम्हारी मैं ही हुआ चमत्कृत,
इतना क्या था सहज, खुलेगा ज्ञान ? भेद से आवृत;
मैंने जो कुछ दिया, दिया है तुमने उससे बढ़कर,
देखेगा संसार स्वर्ग को इसी अचल पर चढ़ कर ।

''आह, तुम्हारे धैर्य और भक्ति का मूल्य नहीं है,
नर का यह ऐसा आभूषण जो कि तुल्य नहीं है;
''उस दिन जो कुछ हुआ अघट, मैं सोच नहीं पाता हूँ,
मन-ही-मन पीड़ा से लगता है मैं चिल्लाता हूँ ।

''ऐसा था वह कीट काल-सा जंघा कुतर रहा था,
पर सिहरा था कर्ण नहीं, जब नभ तक सिहर रहा था।''
परशुराम सिहरे क्षण-पल को सर से पाँव तलक ही,
और देखते रहे कर्ण को प्रमुदित हो अपलक ही ।

ले आए आश्रम में उसको, बैठ गए आसन पर,
कुछ अवसाद, हर्ष भी कुछ-कुछ छाये अब भी मन पर;
पा संकेत कर्ण भी बैठा वहीं गुरु के सम्मुख,
कोने-कोने में सिमटे थे हर्ष-विषाद के सुख-दुख ।

मौन तोड़ते कहा कर्ण से परशुराम ने ऐसे,
गिरि-अन्तः से झरता हो मृदु स्त्रोत सलिल का, जैसे–
''कर्ण प्रात होने में अब तो कुछ ही शेष समय है,
आगे जो भी आनेवाला वह भी निश्चित, तय है ।

''कितना है आश्चर्य समय यह तुमसे हार गया है,
उड़ा विहग जो दो क्षण में ही सागर पार गया है ।
संवत्सर कब एक मास में सिमटा रहा, न ज्ञात,
देखो कर्ण निकल आया रवि, लिये करों में प्रात ।

''जैसे फैल रही है किरणें ऊपर से हो नीचे,
स्वर्णविभा को स्वर्णकोष से लेकर कोई उलीचे;
अब से जीवन खिले तुम्हारा रविप्रकाश-सा, रवि हो,
अग्नि-वज्र हो, वाण-वाणी हो, सचमुच में तुम पवि हो।

''इसी क्षात्र पर खिले तुम्हारी उज्ज्वल नई मनीषा,
मणि-सा वह भी चमक उठे जो काजल का है शीशा ।
कर्ण, तुम्हारा क्षात्र कभी भी नहीं बुद्धि संग छोड़े,
शक्ति कभी भी मनन-बुद्धि की बाहें नहीं मरोड़े !

''और, अगर ऐसा होता है, समझो कुछ न पाया,
देखोगे, मंद्राचल का रवि यहीं लौट है आया ।
मैंने जो कुछ दिया, लोक के हित में हो संधान,
बलिवेदी का पाठ नहीं यह, है हविष्य का गान ।

''देव-आचरण से ही होगा और प्रखर यह सिद्ध,
और नहीं तो लौट आएगा मुझसे हुआ समिद्ध;
कर्ण, आज से लोक-हितों में विचरो, जागे सोए,
मुझसे प्राप्त शक्ति से कोई देव-वंश न रोए ।

''देव-वंश जो न्याय-नीति के पथ का है अनुगामी,
नर में नारायण के सारे दिव्य गुणों का स्वामी;
उसकी ही रक्षा में अब से अस्त्र लगे ये सिद्ध,
और नहीं तो लौट आएगा मुझसे हुआ समिद्ध।''

परशुराम चुप हुए, कर्ण भी मौन, करुण था ऐसे,
स्वर्ण शैल पर घिर आए हों मेघ पलों को जैसे ।
प्रमुदित कर्ण झुका चरणों पर साष्टांग नभ-घन-सा,
उतर पड़ा मंद्राचल-मुख से वह गतिमान पवन-सा ।

फैला है स्वर्णिम प्रकाश, है सोने का साम्राज्य,
रवि का है या अंगराज के कंचन-मणि का राज्य ।

भँवर पर्व
(सर्ग छह)

छायी हैं खुशियाँ अनन्त चम्पा के राजभवन में,
इसी बात की चर्चा है धरती पर, नील गगन में;
लौटा, जो मधुमास गया, फिर जमकर ठहर गया है,
किस अनन्त की खुशियों से पत्थर तक सिहर गया है।

फूलों से भी अधिक मुलायम काँटों की काया है,
प्रखर जेठ की भी दोपहरी बादल की छाया है;
गंगा की लहरें असीम को छूने को व्याकुल हैं,
भरे वेग से बढ़े जा रहे वे भी जो झुल-झुल हैं ।

चम्पा के कण-कण में जैसे सूर्य समाया लगता,
इतनी शोभा है धरती पर स्वर्ग अघाया लगता;
अधिरथ के मन की उमंग की आज नहीं है सीमा,
किस अछोर की पुलक भरी जाती है धरती भीमा !

अंग देश का कर्ण भूप हो, साध यही अब मन की,
अधिरथ की ही नहीं, धरा की, ऊपर नील गगन की;
राधा की रट यही, देर अब करना कहाँ उचित है,
कर्ण भूप हो, भाग्य अंग का इसमें सकल निहित है ।

सब कुछ सोच कहा अधिरथ ने ''इसमें क्या कुछ शक है,
लेकिन शुभ-शुभ नहीं दिखाता कृष्ण पक्ष जब तक है;
धृतराष्ट्र का आमंत्रण भी कल ही मुझे मिला है,
चम्पावन में कोविदार का लगता पुण्य खिला है ।

''जाना होगा मुझे, कर्ण भी मेरे साथ चलेगा,
धृतराष्ट्र के पुत्रों से यह वर्षों बाद मिलेगा;
पांडव-कौरव के कौशल की होगी जहाँ परीक्षा,
पूर्ण हुई है, तात द्रोण से जो मिलनी थी शिक्षा ।

''चार दिनों तक रुकना होगा, फिर दो दिन जाने में,
कुछ विलम्ब अब कहाँ दिखाता इच्छित फल पाने में;
यह अंतिम ही बार पवनरथ को भी मैं हाँकूँगा,
कुलदेवी से प्राप्त कला को ऐसी गति, लय दूँगा ।

''देशकाल सब गुँथे चक्र में सम्मुख खड़े मिलेंगे,
एक बार फिर पारिजात से मेरे प्राण खिलेंगे;
लेकिन इच्छा यही कर्ण की हाँके आज वही रथ,
इसी बात को लेकर उसका मन देखा है उद्धत ।

''अब उसका है मन, तो कैसे उसको रोक सकूँगा,
न जाने फिर इस सुयोग को कब अवलोक सकूँगा !
अच्छा होगा, देखूँगा रथ मारुत हाँक चले, वह
उड़ते हुए काल-संवत्सर-क्षण को छाँक चले, वह ।''

सुन राधा के आनन पर मुचकुन्द खिले सौरभ से,
उतर रही हो स्वर्ण रश्मियाँ एक साथ ही नभ से ।
उधर द्वार पर सजा हुआ रथ अश्वों से सज्जित है,
जिसे देखकर दिव्य दिवस का नभ में रथ लज्जित है ।

कसा हुआ है कर्ष, सारथि गति को हाँक चलेगा,
कहना मुश्किल धरा हिलेगी या फिर व्योम हिलेगा;
दिशा-दिशा है, सावधान तो काल हाथ को जोड़े,
पौरुष का रत्नाकर फेनिल कहीं नियम न तोड़े ।

अधिरथ का आसन लेना था, गति ने खोली पाँखें,
देख मरुत की खुली रह गई अचरज से ही आँखें ।
मिला कर्ण-संकेत उठ गए भू से रथ के चक्के,
आपस में खा रही दिशाएँ, देश-काल सब धक्के ।

एक निमिष के लिए दिखा रथ और वहीं ओझल है,
रथ है कि जलती रेतों पर एक बूँद का जल है ?
सिकुड़ गया था काल समेटे अपनी विस्तृत सीमा,
लघु-लघु में सब बदले थे जो कुछ थे भीमा-भीमा ।

पहुँचा जब धृतराष्ट्र नगर के रंगमंडप में कर्ण,
कृपाचार्य के, द्रोण-विदुर के हिले हृदय के पर्ण;
''कहीं दृश्य न उलट चले और अर्जुन के विपरीत बने,
हार कौरवों की पलटी ले और वही फिर जीत बने ।''

कहा द्रोण ने कृपाचार्य से, ''किसको ज्ञात नहीं है,
खुली दिवस की बातें हैं, ये दिन पर रात नहीं है;
दुर्योधन ने कहा कर्ण से, तुरत भीम को बाँधा,
कर्णभुजा ने गिरि के बल को जंजीरों से साधा ।

''फिर उफनाती हुई नदी में छोड़ चला आया था,
पांडव के पौरुष को पल में तोड़ चला आया था;
अब तो इसने परशुराम से पाई हैं सब निधियाँ,
अग्नि, वरुण और वायु-भूमि के अस्त्रों की सब विधियाँ।

''कर्ण अगर चाहे तो वन में क्षण में आग लगा दे,
अंतरिक्ष के शून्य विवर में सोया मेघ जगा दे;
बरस पड़े सावन वसुधा पर आँधी फिर लहका दे,
एक तीर से अग्नि-हवा को चाहे तो बहका दे ।

''एक तीर से नियति-काल का चक्र बदल सकता है,
एक तीर से पांडव का यह भाग्य निगल सकता है;
''एक तीर से अनहोनी को होनी भी कर डाले,
एक तीर से चाहे तो यह अपना पक्ष बचा ले ।

''एक तीर से चाहे तो यह गिरि को अभी हिला दे,
जो भी है गतिमान अगति से पल में उसे मिला दे;
''कृपाचार्य, जो कुछ सीखा है परशुराम से मैंने,
वही सिखाया है पांडव को, हो निष्काम-से मैंने ।

''पर यह कर्ण तो सीधे उनसे सीख सभी आया है,
लगता है अनहोनी ही होनी है, क्या माया है ।
पर कुछ तो करना ही होगा सव्यसाची की खातिर,
चुप तो नहीं रहा जा सकता, तात समझिये आखिर ।

''मैंने भी तो ज्ञान-दान से इसको दूर रखा है,
इसीलिए तो दुर्योधन का भाई और सखा है ।
मेरी बातों को मानेगा, मान नहीं मैं सकता,
अन्य पुरुष यह बना हुआ है प्रथम पुरुष का वक्ता ।

''सचमुच में यह कठिन काल है पांडव-पथ का रोड़ा,
घुन बन सकता है काया का, तिल भर का यह फोड़ा;
कूटनीति से इसे झुकाना ही संभव है, तात !
और नहीं तो कभी नहीं आने को स्वर्णिम प्रात ।

''कंचन गिरि-सा कर्ण बढ़ा आता है मंडप ओर,
तमस चीर कर ज्यों उठता है लिए भानु का भोर ।
सबकी आँखें उसी ओर हैं, विस्फारित, अति विस्मित,
प्राणों की हलचल है ठहरी, साँसें सब की विरमित ।

''अच्छा होगा किसी तरह से इसका तेज हरण हो,
तन का बल तो तुरत गिरेगा मन का अगर क्षरण हो;
''क्षत्रिय है तो क्या होता है, सूतकर्म तो इस्थिर,
इस नाते तो कर्ण ठहरता, सूत पुत्र ही आखिर ।

''राजपुत्र की जगह अगर हो सूतपुत्र संबोधन,
निश्चित मन का तेज गिरेगा, यह रहस्य क्या गोहन ?
नीचा अगर दिखाने में हम सफल कहीं हो जाते,
देखेंगे अपनी आँखों से पार्थ-जीत को आते।

''लेकिन यह सब ऐसे कुछ हो, कुछ भी पता चले न,
खले अगर तो सिर्फ कर्ण को, नृप को कभी खले न।
कहीं बात जो बड़ी लीक से, चाल पलट सकती है,
कूटनीति सब बनी बनाई कभी उलट सकती है ।

''क्या रहस्य ? जो छिपा हुआ है दुर्योधन आँखों से,
वह तो ऐसा विहग; देखता है अपनी पाँखों से ।
मैं बोलूँ, इससे तो अच्छा भीम इसे ही बोले,
कितनी चोट पहुँचती इससे, इसको जरा टटोले।

''तब तक रोके रहिए इसको, चाहे जैसे भी हो,
कूटनीति तो कूटनीति है, अच्छी या मैली हो ।''
सुन कर आँखें चमक उठी थीं कृपाचार्य की ऐसे
दबी राख में लहक उठी हो आग अचानक जैसे ।

''रुको कर्ण'' कह कृपाचार्य कुछ आगे बढ़े, रुके फिर,
''बिना निमंत्रण के आए हो, क्या उद्देश्य है आखिर ?
सव्यसाँचि से द्वन्द्वयुद्ध की चाहत घोर अनय है,
पांडूनंदन अर्जुन है, कुन्ती का कुक्षि-तनय है ।

''और अगर जिद यही तुम्हारी तो इतना बतलाओ,
राजा हो या राजकुँवर, तब ही तुम हाथ मिलाओ !
पहले अपने मातृ-पितृ का वंश बताना होगा
द्वन्द्वयुद्ध के लिए धर्म जो, उसे निभाना होगा ।''

उबल पड़ा दुर्योधन सुनकर, गरजा मेघ धरा पर,
सिहरी थी रंगशाला ही क्या ? ऊपर, नीचे, बाहर;
और वहाँ से तीन बाँस पर गूँज गया स्वर कातर,
उतनी खनक दिखी थी उसमें जितना था वह झांवर–

''यह अधर्म है, प्रश्न व्यर्थ है, वीरों का अपमान,
तेजपुंज जब प्रकट; यही तो क्षत्रिय की पहचान;
कहे नहीं क्या स्वर्ण कवच-कुंडल की आभा परिचय ?
देववंश का प्रकट अंश है, शक क्या। यह तो निश्चय।

''और यही कल अंगदेश का नृप भी होगा घोषित,
चम्पा नरेश अधिरथ की रानी राधा से है पोषित ।''
रंगमंडप में गूँज गया स्वर नारी का गंभीर,
जो प्रकोष्ठ से आया था रानी का, बहुत अधीर ।

सुना कर्ण ने विचलित मन से उस नारी के स्वर को,
कृपाचार्य को कहे बिना कुछ; रोका खुले अधर को;
पर दुर्योधन रुका नहीं, दुहराया उसी कथन को,
अपने घोषों से थर्राता धरती और गगन को ।

उधर भीम भी हाँक रहा है ''क्षत्रिय है तो क्या है,
सूत-कर्म में दक्ष, सूत है, किसको नहीं पता है ।
अब तक विदित नहीं था यह सब,लेकिन अब सब ज्ञात,
क्या हविष्य का अधिकारी है श्वान, पतित की जात ?''

लेकिन कुछ क्या सुना कर्ण ने कोलाहल से दूर,
व्यथित कथन से कृपाचार्य के, तन-मन चकनाचूर;
पर कानों में गूँज रहा है, 'देव वंश का अंश',
जो उतारता कृपाचार्य के, भीम-कथन के दंश ।

'अंगराज की जय हो' करता नाद तुमुल कौरव-दल,
कर्ण-शीश पर क्षत्र रखे दुर्योधन पागल-पागल;
पर इस सबसे दूर अभी भी कर्ण कहीं है खोया,
किस-किस की बातों से कितना तड़पा, कितना रोया ।

आँखें बंद हुई पल भर को, नभ की ओर निहारा,
भीगे मन से पृथापुत्र ने रवि को निरख पुकारा
देखा, उतर रही हैं किरणें, नीली, पीली, रक्तिम
हरी, बैगनी, नारंगी, आकाशी—गाढ़ी, मद्धिम,

धाता, मित्र, वरुण, पूषा, पर्जन्य, त्वष्टा,
उतर रहे हैं उसके मन में विष्णु रूप धर स्रष्टा;
उसके सर पर उषा, प्रभा, छाया का छायातप है,
होने लगा हृदय में उसके पिंगल अजपाजप है।

लगा कर्ण को वही इन्द्र है, विवस्वान है, पुष है,
अपना ऐसा रूप निरख कर कितना प्रमुदित खुश है;
वही प्रकृति के रोम-रोम में भास्वर बना समाया,
जड़-चेतन का हर्ष-शोक उसके ही मन की छाया।

वही चैत, बैशाख, जेठ है, उर्जा का है आश्रय,
क्या आषाढ़; वही सावन है, भादो है रस अक्षय;
आश्विन अगर समाहित उसमें, कार्तिक-अगहन संग हैं,
पूस, माघ, फागुन के सारे खुले-खुले से रंग हैं ।

वही सूर्य है, वही चंद्र है, वही अग्नि है भू पर,
जो कुछ दिव्य-दिव्य है शोभित, ऊपर-ऊपर, ऊपर''
रोमांचित हो गये कर्ण के रोम-रोम हो पुलकित,
जाग उठे हों सारे गुण ही पूर्व जन्म के संचित।

देखा आँखें खोल हर्ष का नाद बहा जाता है,
कोई कंधे पर कर रख कर फिर-फिर सहलाता है;
नृत्य-गीत के साथ घोष भी 'जय अंगेश' वही है,
नाच रही अम्बर पर किरणें, नीचे धरती भी है।

सब अचेत-से हुए जा रहे ऐसी खुशी बढ़ी है,
पर पांडव के, कृपाचार्य के, मन पर व्यथा पड़ी है ।
निकल गया कब कर्ण वहाँ से ज्ञात नहीं हो पाया,
रथ को आँधी से बाँधे वह अंग देश को आया ।

कहीं हर्ष है, कहीं व्यथा है, कहीं मौन-कोलाहल,
कहीं तमस की छाया छायी, कहीं ज्योति है झलमल ।

प्रबोध पर्व
(सर्ग सात)

हृदय अब भी उदासी से भरा-सा कर्ण का है,
गगन से चोट खाकर चाँद धरती पर गिरा है;
विभा से फूटती है कालिमा-कालिख, उजागर,
बहुत गुमशुम, विरल नद-सा दिखाता सिंधु सागर ।

खिला हो पुष्प जिसमें हो नहीं मकरन्द सौरभ,
नहीं हटते हैं पांडव और न तो मन से कौरव ।
गिरा गंभीर नारी का, 'प्रकट यह देववंशी,
यही कल भूप होगा अंग का यह राजवंशी ।'

''उठी थी कौन मेरे पक्ष में लेकर गवाही,
भले ही जम रही थी कौरवों की वाहवाही ?
ये कैसा खेल है जिसका यहाँ मैं ही खिलौना ?
फँसा है झाड़ियों के बीच मृग का एक छौना !

''भला क्या चाहती है नियति मुझसे, मुझसे केवल,
छिपा बैठा है भीतर भाग्य मेरा, ठोक सांकल''
बहुत बेचैन होकर उठ पड़ा राधेय गुमसुम,
उधर अरुणिम गगन पर बह रहा है रक्त कुमकुम ।

चला आया सँभाले मन को वह गंगा किनारे,
विगत की भग्न, मैली, श्याम सुधियों के सहारे;
कहा गंगा से, ''बोलो माँ, मेरी जीवनकथा क्या ?
नहीं यह साथ छोड़ेगी कभी डायन व्यथा क्या ?

''मिला मंदार पर था कुछ मुझे संकेत झिलमिल,
वही फिर हस्तिपुर में हो गया था कैसे शामिल ?
मेरी खुशियाँ व्यथा की बन गई हैं क्यों सहेली ?
बताना आज होगा, माँ, तुम्हें क्या है पहेली ।''

मुँदी आँखें, जुड़े कर भी, बनी है देह पत्थर,
कि जैसे जम गया हो कुछ पलों को सिंधु सागर ।
खुली आँखें तो सम्मुख रश्मियों का ही पुरुष था,
नहीं कोई कहीं था क्षोभ मुख पर, बहुत खुश था ।

झुका चरणों पे था भूमिष्ठ ऐसे कर्ण पुलकित,
हृदय के भाव सारे हो रहे हैं स्वयं लक्षित ।
लगाया वक्ष से वसुषेन को तत्क्षण उठाकर,
शिला के एक उज्ज्वल खंड पर उसको बिठा कर ।

लगे कहने किरण के देवता हर इक कथा को,
रखे मन में, नयन में, बोल में सम्मुख पृथा को;
''सुनो वसुषेन, उस दिन रंगशाला में सुना जो,
तुम्हारी माँ पृथा थी, झूठ कुछ न था, हुआ जो ।

''उसे बस जान पाया जो किसी ने, एक ही था,
सुयोधन था, विजय का, हारकर भी, अर्क पीता;
सभी तो जीत में या हार में खोए हुए थे,
भले ही जागते हो पर सभी सोए हुए थे ।

''तुम्हारा रंगशाला में अचानक आ पहुँचना,
बिगड़ कर रह गई थी द्रोण की ही व्यूह-रचना ।
नहीं उनको पता था कि तुम्हें न्योता मिला है,
सुयोधन को नए ही रूप में जेता मिला है ।

''विजय वह चाहता है पृथ्वी पर, राज करना,
किया उपकार, जो मुश्किल बहुत ऋण से उबरना ।
सुनो, वसुषेन, जो भी घट रहा, जो भी घटेगा,
उसी के वेग से छाया हुआ कुहरा छटेगा ।

''तुम्हें क्या ज्ञात वर्णावर्त्त में, जो कि यहाँ पर,
पृथा ठहरी थी लाखावास में अब तक जहाँ पर;
उसी की कामना थी ब्याह होने तक रहेगी,
लिखा है भाग्य में जो, क्या हुआ, उसको सहेगी ।

''स्वयंवर देखना वह चाहती थी भानुमति की,
सुकन्या सुन्दरी भगदत्त की, ज्योतिप्रभा की ।
पृथा यह जानती थी सुन्दरी किसको मिलेगी,
कमलनी स्वर्ग की यह किस सरोवर में खिलेगी ।

''तभी तो पांडवों को दूर ही रक्खा यहाँ से,
सभी कुछ ज्ञात होना था सहज क्षण में जहाँ से ।
सुता भगदत्त की कन्या कनिष्ठा बस तुम्हारी,
मुदा क्या भानुमति का दोष था, रहती कुँवारी ।

''मुझे जिस बात की शंका थी, जिसका डर लगा था,
समय से सिद्ध है वह, जो लगा कुछ अन्यथा था;
हुआ वैसा ही, तुमने जीतकर भी भानुमति को,
उसे सौंपा सुयोधन को असुर–कर में ही रति को ।

''नहीं तो क्या ये संभव था सुयोधन से कभी भी ?
कहाँ लगती पुरानी है विगत बातें अभी भी ।
लिया था रार तुमसे जब मगध के उस कुँवर ने,
स्वयंवर को ग्रसा हो क्रुद्ध राहु-कोप-डर ने ।

''सुदर्शनचक्र पौरुष, तब तुम्हारा जग गया था,
तुम्हारा तेज अनजाने ही मुझसे लग गया था;
गिरा गिरि-सा जरासुत तो कहाँ फिर डोल पाया,
नहीं फिर मुँह, न बाँहों को दुबारा खोल पाया ।

''बहुत दुख है, तुम्हारी माँ पृथा न देख पाई,
तुम्हारी जीत की छिटकी हुई नभ में जुन्हाई ।
न जाने अब कहाँ होगी वह गंगा पार कर के,
सुयोधन को मिला क्या लाह का घर क्षार करके ?

''भला वह क्या समझता था कि पांडव जल मरेंगे,
बड़े निश्चिन्त होकर श्राद्ध पाँचों का करेंगे ?
उसे यह ज्ञात ही न था कि जिनकी माँ पृथा है,
उन्हें तब मारने का छल-कपट से ही वृथा है ।

''समझना पांडवों को दीन, भारी भूल होगी,
वही कल भूप होगा आज वन-वन जो वियोगी;
लगा तो काल का टीका सुयोधन-भाल पर है,
तभी विपरीत मति-चिन्ता, नियति की चाल पर है ।

''उसे अब देवता चाहे बचाना, तो असंभव,
जिसे कर में लिए ही मुस्कुराता काल भैरव;
सुनो वसुषेन, मेरे पुत्र वयकर्तन, सुनाऊँ,
कहीं सब कुछ सुनाने में इसे न भूल जाऊँ ।

''तुम्हारा मन सुयोधन के लिए जितना तरल है,
कहाँ तुमको पता इसका लगेगा, यह गरल है;
तुम्हें वह चाहता है इसलिए कि चाह कुछ है,
अलग है राह उसकी, जब तुम्हारी राह कुछ है ।

''भरम ये हो रहा तुमको, तुम्हारा मित्र है वह,
भयानक स्वप्न का चलता हुआ-सा चित्र है वह ।
जला कर लाह के घर को जलाया भाग्य अपना,
पकड़ता फिर रहा है व्योम का वह कौन सपना ।

''उसे मालूम क्या है, पांडवों के साथ केशव
वहाँ क्या प्रेत कर लेगा, जहाँ पर काल भैरव ?
सुनो वसुषेन, उससे कुछ नहीं अभिभूत होना,
अरे, इससे तो बढ़ कर श्रेष्ठ है वह सूत होना !

''नहीं कुछ भी करेंगे कृष्ण, सब कुछ घट चलेगा,
पवन जैसे उठेगा व्योम-बादल छट चलेगा;
इसीसे कह रहा हूँ, धर्म के ही साथ रहना,
किसी भी हाल में रहना, नहीं अनुदात्त रहना ।

''यथा ज्यों तात तेरे अंग के हैं विश्वजेता,
धरा पर धर्म से ही राज्य के हामी, प्रणेता;
जिन्होंने पूर्वजों के मान को जोगा, सँभाला,
नहीं होने दिया है आज तक धूसर या काला ।

''अनुज हैं विश्वजेता के ही, छोटी माँ के अधिरथ,
बढ़ाए जा रहे कुल-वंश का सम्मान अविरत;
तुम्हें तो और ऊपर उठ के चलना है यहाँ से,
बहुत आसान है चढ़ना अमरगृह तक जहाँ से ।

''तुम्हारे तात तो हैं विश्वजेता चित्तजेता,
इसीसे पुण्य लेकर अंग में आसीन त्रेता।
पिता अधिरथ के कहने पर किया जो, ठीक ही था,
मिली है सारथी कन्या सुशीला तो पुनीता।

''भले ही पुन्नु आई अंग हो, सन्तान भी क्या ?
सभी तो हस्तिपुर में हैं; यहाँ है अंग फीका ।
कभी मत सोचना वे चम्प के वासी बनेंगे,
रहे हैं हस्तिपुर में तो वही के सब रहेंगे।

''उन्हें माता-पिता तो भा सकेंगे बहुत मन से,
नहीं पर अंग की माटी, सलिल, नभ या पवन से।
उन्हें तो राजवैभव का मिला सुख है, उसी के,
कभी क्या भूमि अपनी भा सकेगी जो किसी के ?

''अयस है जो मनुज तो धन है चुम्बक का ही पर्वत,
कहाँ फिर मिट्टी का सौरभ हवन का हविश-अक्षत !
कभी क्या खींच पाता घर है अपने मोह-बल से ?
अगर कुछ जग गया, तो है उड़ाता लोभ छल से ।

''पराई भूमि की माया से जिसका मन बँधा हो,
उसे स्वदेश बाँधेगा कभी, उम्मीद क्यों हो !
इसीसे कह रहा हूँ, तुम वृषाली को वरोगे,
तुम्हारे तात का आदेश जो है, वह करोगे ।

''नहीं बस विश्वजेता की, यही चाहे भी अधिरथ,
कहा क्या, हो रहे हो इस तरह से श्वेद लथपथ ?
प्रजा के शांति-सुख से भूप का जीवन बड़ा क्या ?
कहो क्या लोकहित में राज्य न होता खड़ा क्या ?

''तुम्हारे अंश से ही देश यह रक्षित रहेगा,
कभी कोई किसी भी दाह में यह न दहेगा ।
''यहाँ पर कौन है कुल-वंश का, जो वंशधारक,
कभी इस पर विचारा है अलग से भी, विचारक ?

''नहीं तुम जानते हो, कौन है भगदत्त भूपति,
वृषाली मोहनिद्रा-सी उसी की तो है संतति ।
पिता का ओज भी है, शील भी है; शुभ रहेगा,
तुम्हें जो कह रहा हूँ मैं, नहीं कोई कहेगा ।

''इसीका पुत्र होगा अंग का सम्राट भावी,
सुयश—गोदावरी से चीर, पद्मा, सिंधु, रावी;
मलय की गंध से सुरभित बहेगा भुवन भर में,
उसी की बात होगी लोक में, ऊपर अमर में ।

''बचे कुछ और दिन हैं, वत्स का अभिषेक होगा,
धरा पर क्या, गगन में, हर्ष का अतिरेक होगा ।
उसी दिन राजरानी से सजेगा भी सिंहासन,
तुम्हारे हाथ में जैसे ही होगा अंगशासन ।

''बड़ा ही भक्त है भगदत्त शिव का, जिसकी कन्या,
धरा पर रूप धारे ऐसी ही है वह अनन्या;
वही होगी तुम्हारे साथ, तुमको वर लिया है,
तुम्हारे चित्त को भी जिसने पहले हर लिया है ।

''कदाचित उस समय हो माँ तुम्हारी घोर वन में,
भटकती तारिका-सी नीलकंठी धुर गगन में ।
रहे वह जिस अवस्था में, रहेगा स्नेह तुम पर,
जगत में ख्यात, माँ का प्यार; ऊपर नील अंबर ।

''सुनो वसुषेन, शंका के घिरे बादल हटाओ,
तुम्हें मैं वक्ष से अपने लगा लूँ, पास आओ !''
लगाया वक्ष से जैसे, लगा था कर्ण को यह,
हुआ हो भोर गंगा-तीर पर, चिड़ियों का चहचह ।

पुलक से भर गया था वह पिता का स्नेह पाकर,
ये कैसा हो गया था व्योम में तमहर उजागर;
मुदा जैसे गये थे तात, शंका आ घिरी थी,
मनस से आ लगी थी, जो बहुत ही बावरी-थी;

''मुझे क्यों दे गए हैं तात यह आदेश ऐसा ?
उन्हें क्या मित्रता में दोष दिखता शेष ऐसा ?
किया उपकार मुझ पर है, करूँ फिर क्यों नहीं मैं ?
पिता की बात से विचलित लगूँ शायद कहीं मैं !

''कहा है मित्र उसको, तो सुयोधन मित्र मेरा,
भले ही चित्र हो; मेरे हृदय का चित्र मेरा;
कभी क्या छोड़ सकता मित्र को अपने सुयश में ?
अगर चाहूँ भी ऐसा तो नहीं यह हृदय वश में ।

''विपद में मित्र को जो छोड़ देता, घोर पातक,
भले ही क्वार कुछ छोड़े न छोड़े, पर न चातक।
मेरा जीवन समर्पित मित्र की खातिर, सही है,
बड़ा इससे नहीं यह राजवैभव या मही है ।

''हुआ आदेश तो स्वीकार है मन से वृषाली,
सुयोधन के बिना तो मन-हृदय का धाम खाली।
नहीं है सूतवंशी, यह सुयोधन ने कहा था,
कहूँ क्या, किस तरह आभार में यह मन झुका था।

''मुदा मन डोल जाता क्यों, सुनूँ जो 'सूतवंशी',
छुपी कितनी घृणा है, पाप यह तो कृत्य कंशी;
अगर मैं सारथी का पुत्र हूँ, तो क्या हुआ यह,
कहो क्या सारथी होना नहीं होता कला यह ?

''जरूरत जब पड़ेगी सारथी सुर तक बनेंगे,
मनुजता के विरोधी उस समय तब क्या कहेंगे ?''
ये कहते-कहते रूँधा था अचानक कंठ रवि का,
संझाती रंग-सा दिखने लगा था रूप छवि का ।

हुई नीलाम्बरी-सी सृष्टि जो अब तब सलेटी,
लगा श्यामा ही जैसे केश खोले नभ पे लेटी;
उसी के बीच ही पदचाप कुछ ध्वनियाँ हुई थीं,
बहुत मद्धिम कि जैसे ओस की बूँदे चुई थीं ।

लगा यूँ कर्ण को वह नींद में था, जग गया है,
नई है सृष्टि जो कुछ भी दिखे, सब कुछ नया है;
नहीं यह सोच पाया कर्ण ही क्या स्वाप में था,
समाधि टूटी ही क्यों; कैसा अजपाजाप में था ।

तभी फिर कर्ण के कानों से टकराई वही लय,
''तुम्हारा यश, तुम्हारा कृत्य, कालातीत-अक्षय;
प्रवाहित रक्त है तुममें मेरा ही; पुण्य बरसे,
सुधा, संजीविनी आए हलाहल से जहर से ।

''जगत को दे रहा आलोक है जल कर दिवाकर,
उठो तुम सूर्यवंशी, सृष्टि की विपदा उठा कर;
धरा पर कर्म का ही धर्म रहता है अडिग, चिर,
उसीके सामने भी काल दिखता शान्त, नतसिर ।

''सँभालो अंग का शासन धरा पर पुण्य लाने,
झुकी जो पाप से धरती, उसे ऊपर उठाने ।
इसी से लोक आलोकित बनेगा, भूमि सारी,
नहीं मैं ही तुम्हारे साथ हूँ, माँ भी तुम्हारी ।''

सुना तो कर्ण ने, पर मौन गिरि-सा लौट आया,
समुंदर पर लहरता मीन फिर जल में समाया ।

प्रमदवन पर्व
(सर्ग आठ)

''पक्ष बीते, मास बीते, वर्ष बीते काल के,
पर नहीं धूमिल कहीं कुछ मन-हृदय महिपाल के;
दीठि में अब भी है चंचल रूप की वे रश्मियाँ,
स्वर्ण के प्रासाद पर वह कौमुदी की उर्मियाँ।

''आहटें ! शीतल हवा, सौरभ मलय का पास हो,
पुष्प कुम्हलाए सभी उत्फुल्ल, मधु रितु हास हो;
साँस तक रोके पवन भी पाँव रखता रुई-सा,
फूल माला से बँधाता झुंड तक था हस्ति का ।

''पूस का मन चैत होता बुढ़िया आँधी, गंध वह,
उस समय चौवाय भी पुरवाई होती अंततः;
पूर्णिमा, रतनारि दृष्टि; रजनी, कजरारी बनी,
क्या भुलायी चटक बातें छा रहीं बन चम्पई ।

''आज भी तो सेविया सुधि में समाया मन हुआ,
अब भी मन पर धानी रंग का आवरण वह अनछुआ;
टीका, टिकुली, खौर, नथ, कुंठा औ सिंकुली, चंचला
कुहनी, तगड़ी, बाज की वह बाँक की स्वर्णिम कला ।

''आज भी मुझको उड़ा ले जाती है यह मेघवन,
रंग फूलों के विहँसते आज भी तो छुम छनन ।
आज भी कचनार की मुस्कान की वंशी बजे,
माधवी, बेला-लताओं की वही माया सजे ।

''आज भी तो केतकी संगीत भरती रोम में,
चाँदनी की रास अब भी इस गहन तम तोम में;
आज भी मुचकुन्द सुरभित है, वकुल जैसे खिले !
मैं जरा विचलित हुआ तो सब के सब आ कर मिले ।

''याद करता हूँ कभी जो उन दिनों को आज भी,
हों वकुल के फूल, हरशृंगार के मन में तभी;
बेसुधी अपनी छिपाए किस तरह व्याकुल रहा,
मैं निमिष को एक मन्वन्तर तरह ही है सहा ।

''सोच कब पाया वृषाली-भानुमति का भेद क्या ?
मैं कुसुम आकाशद्रुम का, शून्य में जो कि टिका;
खींचता था मोह; मन पर भार अंकुश का रखा,
क्या बताता कुछ मुझे ही, कौन ऐसा था सखा ।

''इसलिए ही मैं तुम्हारी छाया से बचता रहा,
क्या नहीं, कितनी ही बातें मन से मैं कहता रहा;
कुलपुरोहित से अगर जानी न होती सब कथा,
टूट सकती थी कभी क्या मेरु पर्वत की व्यथा ?

''जीत कर भी भानुमति को जब दिया था मित्र को,
टाल सकता क्या, प्रतिज्ञा ? कह दिया, 'ये लो रखो';
पर कहूँ सच-सच तुम्हें, मैं ही कहाँ अभिभूत था,
हार में थी जीत मेरी, एक ऐसा द्यूत था ।

''जब कहा तुमने कि दीदी चाहती थी मित्र को,
बस हृदय से ही लगाए रहती थी वह चित्र को;
भर गया था मैं खुशी से, किस तरह अब क्या कहूँ,
पर पुरानी बात को ले कर अकारण क्यों बहूँ !

''तुम मिली मुझको, तुम्हारी कामना थी, धन्य हूँ,
जेठ का आकाश था, पर आज तो पर्जन्य हूँ;
ज्यों अकिंचन को मिला हो राजसुख ही अंग का,
कुछ नहीं है नाम इसका प्रीत के उस रंग का ।

''भार फूलों का लिए मैं तैरता हूँ पौन पर,
भीगता आपादमस्तक सुरभि से तीनों पहर;
अब तुम्हारे साथ से प्राणों में कुछ बजता लगे,
शून्य में भी हर घड़ी सब कुछ नया सजता लगे ।

''नैन पीते, जागते हैं कान, तो नाचे अधर,
झुक गया है भूमि पर मंदार का ऊँचा शिखर;
चेतना जैसे ही थकती, सुधि तुम्हारी जाग जाती,
फिर वही धृति, दैन्य, चिन्ता, मोह, बीड़ा, गर्व, सुप्ति ।

''भूल मैं सकता नहीं रोमांच या वैवर्ण्य को,
आज कह लेने दो मुझको अपनी जड़ता-त्रास को;
मति रही थी साथ, तो उन्माद मुझसे था अलग,
मृत्यु की व्याधि घिरी न, इसलिए जीवन सुभग ।

''यह वही तो है जगह जब तुम पहन कर चाँदनी,
मिल गई थी बस अचानक लाज से सिकुड़ी-सनी;
हाथ के वे धूप-दीपक थरथराए थे जरा,
स्वर्ग से उतरी हुई सम्मुख मेरे थी अप्सरा ।

''आज भी भूला नहीं, न भूलना ही चाहता,
शून्य से लटकी रजत की डोलती कोमल लता;
सृष्टि का सौन्दर्य सारा था खड़ा आकार ले,
नत नयन पर घिर गये अनुराग का मधुभार ले ।

''जम गई थी चाँदनी या स्वेद-कण उभरे हुये,
इस तरह देखा न था मैं रूप को सँवरे हुये;
क्या तुम्हें भी याद है वे माधवी के फुल्ल दिन,
हाथ जोड़े देखता था दूर से ही दिव मलिन ।''

कर्ण की बातें वृषाली को बहाती ले गयी,
गूँजती थी बाँसुरी बस और कुछ था क्या कहीं;
सुन झुकी थी लाज से फिर दीप की वह वर्तिका,
मन मजीठी, भींगती-सी ओस में अभिसारिका ।

नील नभ में हो सुहाती एक चंचल तारिका,
उपनिषद् की अनलिखी-सी, अब लिखी-सी कारिका;
झील में लहरें उठीं, काँपा सलिल थिर हो गया,
जो उड़ा खग नील नभ में एक क्षण में खो गया ।

चुप दिशाएँ; ज्यों हवाएँ; क्या हुआ, क्या हो गया,
छुम छनन छन हो रहा था जो हृदय में सो गया;
सर उठाये था खड़ा वह दृश्य राज्यारोह का,
मोद में डूबे समय का आह का न, ओह का ।

छा रहा आलोक केवल अंगपति के मोह का,
हेम से निर्मित हुआ मन; चंपई तन लोह का;
कंबु, तुरही, पर पटह का नाद होता व्योम तक
क्या मुदित नारी या नर ही, सूर्य से ले सोम तक ।

भीत अरिगण नाद सुनकर काँपता तम तोम तक,
कर्ण के अभिषेक से हर्षित अवनि के रोम तक;
फैलती मृदुगंध दिक् तक, खिल गए सब फूल थे,
सिंधु, सातो की खुशी से टूटते उपकूल थे ।

शोक उजड़े धूल-धूसर जो धँसे आमूल थे,
सब हुए अनुकूल अब तक जो जिधर दिक्शूल थे;
कीर्तिगाथा और मंत्रोच्चार का घननाद वह,
अंग के उस हर्ष का वह शोर ठनके-सा असह ।

सब कथा कहता रहा है आज तक भी गंधवह,
जाग उठता जो कभी अवसाद अनचोके विरह;
मुस्कुराई थी वृषाली, फिर, कहा, ''हाँ याद है,
पर मुझे जो याद आती, यह तो उसके बाद है ।

''स्वर्ण आसन पर सुशोभित स्वर्णगिरि नवजात-सा,
और स्वर्णिम सुखलहर पर भाग्य मेरा प्रात-सा;
भूल सकती हूँ भला क्या, मोदपूरित काल वह,
उठ गया था और ऊँचा अंग का रविभाल वह ।

''झुक गया नीचे गगन था देखने उस रूप को,
सूर्यवंशी रवितनय को अंग भूपति-भूप को ।''
सुन वृषाली को तनिक चौंका तभी वसुषेन था,
पर सहज हो तुरत पूछा, दब गई मन की व्यथा ।

''तो तुम्हें भी ज्ञात मेरे जन्म की सारी कथा ?
कौन मैं हूँ ? कौन मेरे हैं पिता ? माता पृथा;
भेद तो यह पाँच को ही, जानता हूँ, ज्ञात है,
तीन माताएं, पिता दो तक सीमित यह बात है ।

"मैं ऋणी भागीरथी का, माँ मेरी रक्षक रही,
जन्म की मेरी कथा उसने ही पहले थी कही;
जो नहीं लहरें संभाले साथ चलती, क्या पता,
मैं कहाँ होता, न होता, किस अतल में लापता ।

"पुण्य की माता धरा पर सब दुखों को हर रही,
सृष्टि के आरम्भ से ही स्वर्ग इसको कर रही;
जो मृत्यु को जीव देती, शक्ति देती, पाप हर,
जो क्षमाशीला रही है सुर-असुर के शाप हर ।

"दूसरी माता यही मेरी बनी है, हे प्रिये,
थी इसीकी ही कृपा जो आज मैं, तुम मिल सके;
पर तुम्हें किसने बताया जन्म की मेरी कथा ?
पूछ बैठा, तो नहीं लेना जरा भी अन्यथा !"

ज्यों शिशिर की धूप पर क्षण के लिए छाया घिरे,
कुछ वृषाली-दृष्टितल पर भी दिखे थे भाँवरे
लाज से भीगे हुए स्वर में कहा, नत दृष्टि हो,
घन कभी सूखे नहीं, न तापपोषित सृष्टि हो !

"नाथ, चाहूँ मैं क्षमा, कुछ भी अगर अनुचित हुआ,
क्या कहीं मैं छू गई, वह जो रहा है अनछुआ ?
सच कहूँ, मैंने कहा, जो कुछ सुना निज तात से,
भिन्न कुछ भी तो नहीं है नाथ पहली बात से ।

"और क्यों मिथ्या कहेंगे मुझसे मेरे तात ही,
भक्त शिव के कालदर्शी, शक्तिसागर साथ ही;
कह रहे थे, माँ से वह तो, मैं वहीं थी, सुन लिया,
क्या हुआ सौ बातों में से एक को ही चुन लिया ?

''सच कहूँ, तब से ही मैंने चुन लिया था नाथ को,
माँ-पिता भी गिन गये मेरे हृदय की बात को;
प्रीति को अपनी छुपाना तब कठिन था हो गया,
था कहाँ कुछ ज्ञात, मन कब हँस पड़ा, कब रो गया ।

''काल की सुधि चेतना से दूर थी, ज्यों देह से,
इस तरह से बँध गई थी नाथ के मैं नेह से ।
बस प्रशंसा ही प्रशंसा नाथ की, सुधिहीन हो,
मेरी मति पर जैसे कोई शक्ति ही आसीन हो ।

''सोचती हूँ आज भी जब, नाथ, गड़ती लाज से,
रात नीलम-सी लगे और दिन लगे पुखराज से ।
मोह का बादल घुमड़ता, फिर छटा शृंगार की,
वह कथा कहना है मुश्किल हर्ष की अभिसार की ।

''भेजती थी मैं हवा को सौंप मन की बात को,
मेरी लीला थी, कभी सोने दिया न रात को ।
याद कर बीते दिनों को, प्राण चन्दन, तन कमल,
आज भी मुचकुन्द के दिन सुरभि से बोझिल तरल ।''

हो उठा वसुषेन पुलकित प्रेम से भीगा हुआ,
कुछ वृषाली और कहती, कर्ण ने पहले कहा—
''सच कहा तुमने प्रिये, मधु गंध के मधुभार से,
प्राण तन-मन नत सभी हैं नेह के उपकार से ।

''सोचता हूँ, तुम अगर न साथ होती, तो प्रिये,
किस जगह पर आज तन-मन प्राण होते ये टिके !
आज भी लगता समय उड़ता हुआ खगराज हो,
प्राण कुछ कहने को व्याकुल, काल कहता 'चुप रहो ।''

सुन के यह सिहरी वृषाली, लाज से सिकुड़ी, कहा—
''हाय, कितनी रात बीती, बोध भी न यह रहा !
क्यों न अब लौटे महल को किस तरह वन शांत है,
एक केवल चन्दना की धार ही उद्भ्रान्त है ।

''शशि उठा ही चाहता है चाँदनी के साथ में,
इस तरह रुकना विपिन में क्या है अच्छा रात में ?''
केतकी की गंध की पदचाप जागी, थम गई
वायु में हलचल हुई कुछ और फिर वह जम गई ।

संक्रान्ति पर्व
(सर्ग नौ)

''आज तक देखा न था, कैसे छिपा था नाथ,
मेघवन भी दस वनों में है, न जानी बात;
कब बताया, है मलयवन चंपवन के पास,
मैं कहाँ थी जानती यह सुरभियों का रास ।

''पास ही तो प्रमदवन संग रोमवन का प्रांत
तेज गति की है हवा पर वृक्ष कितने शांत,
दूर तक फैले हुए ये कौशिकी के पार,
था कभी देखा नहीं वन का मृदुल संसार ।''

मुग्ध खोई थी वृषाली और भी वसुषेन,
हर्ष से पुलकित कहा, ''यह सब पिता की देन—
यह खड़ा जो मेघवन है, वंश-कुल की छाँह,
आँधियों का यह शयनगृह, बादलों की बाँह ।

''कौन-सा है वृक्ष ऐसा जो यहाँ पर है न ?
सब दिशाओं और दिकपालों के बँधते नैन;
मैं करूँ किसकी प्रशंसा, कौन इनमें हीन,
रूप-गुण में कोई भी किससे कहाँ है दीन ।

''प्राण, से प्यारे अधिक हैं ये समुन्नत शाल,
छू नहीं सकता जरा जिसको, न जिसको काल;
ये सघन से देवदारु, नागवंशी बाँस,
बाँसुरी के बोल में बजती हैं जिनकी साँस ।

''स्नेह के सींचे हुये ये सल्लकी, सिंधुआर,
जिनके नीचे झुरमुटों में सज रहे कचनार;
या कि लगता है मुझे हर बार-ही-हर बार,
मेरी बाँहों में तुम्हारा सो रहा है प्यार ।

''और ये जो ताड़ हैं, पर ताड़ ही न मान,
ये हमारे अंग-कुल की हैं अखंडित शान;
पास में शीशम खड़े ये, बाहुओं से भीम,
रक्त के रक्षक हमारे वैद्य फैले नीम ।

''चन्दनों की पाँत लम्बी, पीपलों की रेख,
कोविदारों, अर्जुनों को साथ हँसते देख;
और मेरा वट बली वह, बाहु शत-शत डार,
है खड़ा कब से लिए सर पर अखिल संसार ।

''पाँवों में सिन्धु समेटे और सर पर वायु,
छोड़ आये हैं करोड़ों वर्ष पहले आयु;
झूमते जब इन वनों के वृक्ष हो उन्मत्त,
जीत कर आए हो सैनिक मेरे जैसे, सत्त ।

''जंगलों की गूँज जैसे अस्त्र की झनकार,
और जैसे दब रही धरती हो पद के भार;
देखता हूँ जब वनों के वृक्ष, होकर मौन,
सैकड़ों छन्दों को मन में सजने लगता कौन ?

''बिन रुके मैं आ गया, जब भी हुआ मन श्रांत,
एक पल में हो गया हूँ योगियों-सा शांत''
सुन तनिक सिहरी, वृषाली पर दिखा न भाव,
जो प्रकट था सामने में बस क्षणिक अनुभाव ।

दृष्टि को वंकिम किए कुछ ले अधर पर हास,
पूछ बैठी वह बहुत ही और होकर पास—
''इस विजन में ! फिर अकेले ! किस तरह मन शांत?
कुछ नहीं समझी पहेली, भेद कहिए कांत ।''

मुग्ध खोई थी वृषाली और भी वसुषेन,
हर्ष से पुलकित कहा, ''यह सब पिता की देन;
''हे प्रिये ! किसने कहा यह वन विजन-जनहीन,
यह यहाँ के भंगलों के मोद से उड्डीन ।

''वृक्ष के ही बीच जिनके खिलखिलाते प्राण,
बाँसुरी ही कर्ण जिनके, सुर ही जिनके घ्राण;
हाथ है शीतल हवा, तो छवि वनों की, नैन,
जब यहाँ सोता दिवस है, जागती है रैन ।

''मेघवन के जो निवासी, देवता के अंश,
दूर इनसे पुर-नगर के छल-कपट के दंश;
जब कभी इनसे मिलोगी खिल उठेगा गात,
भंगलों के नाम पर यह अंग भी विख्यात ।''

सुन, वृषाली के नयन फैले, न फूटे बोल
पर तुरत ही पूछ बैठी, चेतना को झोल
''क्या कभी पुरवासियों से ये करेंगे नेह ?
पेड़, पत्ते, डालियाँ जिनके लिए गृह-गेह !''

रुक गया वसुषेन कुछ सोचा, कहा हो शांत,
''पुर नगर ही लोक है क्या ? और वन लोकांत ?
हम नगर के वासियों की बस यही है भूल,
वननिवासी कुछ अगर, तो माटी, पत्थर, धूल !

''भूलते हैं, ये हमारे आदि की पहचान,
अंग के भंगल, विभासुत; देवता का ध्यान;
जब कभी हमसे ही होती शान्ति इनकी भंग,
कोप से तब काँपता है बज्र बनकर अंग ।

''तब नगर की नींद को लगता ग्रहण है घोर,
मोतियों, हीरों की आँखों में झलकते लोर;
पर हुआ ऐसा नहीं, यह इसलिए तो शान्ति,
अंग के विधुभाल पर है चन्द्रमणि की कान्ति ।''

और फिर सहसा रुका था, कर्ण धारे मौन,
जानना ज्यों चाहता हो, हाँक देता कौन ?
कुछ वृषाली समझ पाती, कह उठा राधेय,
जो अपेय हो, उसको ही अपना बना कर पेय—

''आज मैं हूँ मेघवन में, पर तुम्हें क्या ज्ञात ?''
हस्तिपुर जाने की मेरी हो रही है बात ?
कल सुयोधन का निमंत्रण लाया है वह दूत,
आज से ही हो रहा है मन मेरा अवधूत ।

''देखना कब हो न जाने मेघवन को घूम
यह अकारण ही नहीं है मोह का यह धूम ।''
यह सुना तो झनझनाई थी वृषाली खूब,
और फिर कहने लगी कुछ शोक-भय में डूब—

''यह बताया ही नहीं, कि किसलिए, क्या काम?
हस्तिपुर का भाग्य क्या फिर हो गया है वाम ?
बचपने से सुनती आई हूँ न क्या-क्या बात,
स्वजनों से स्वजनों का अप्रकट छल-घात ।

''और भी कितनी ही बातें हैं पिता से ज्ञात,
अब अचानक आ पड़ी क्या, कुछ बताएँ नाथ !''
क्या बताता कर्ण उसको, जो मिला संकेत,
फिर वही चन्दन विपिन में नाचता था प्रेत ।

चुप रहा था एक क्षण, फिर खींच ऊँची साँस,
कह उठा, ज्यों खोलता हो; कंठ पर की फाँस—
''हस्तिपुर से आया था वह दूत ले संदेश,
जो सुनाऊँगा तुम्हें तो होगा निश्चय क्लेश ।

''पर तुम्हीं से कुछ छुपाना क्या, सुनो सब बात,
मित्र मेरा अब सुयोधन चाहता है साथ;
साथ वह भी इसलिए, श्यामा हो उनकी नार,
क्या नहीं नर से कराता भोग का संसार ।

''इन्द्रियों की वासना की भीष्म उठती वायु,
लील लेती है क्षणों में नीति-नय की आयु;
घेरती है प्राण को बनकर तमिश्रा-जाल,
नाच उठता है मनुज पर कोटि फन का व्याल ।

''मित्र को संदेश भेजा, 'यह नहीं शुभ कर्म
श्रेष्ठ जो स्वीकार हो वह मानवोचित धर्म ।'
पर कहाँ कुछ भी झुका, देता रहा सब दाव,
टूट न जाए भँवर के बीच घिरती नाव ।

"दे दिया संदेश आने का, बना लाचार,
देखना है क्या लिखा है नियति के उस पार;
जो लिखा हो, दृष्टि से ओझल रहे क्यों बात,
स्यात अपनी बाँहों से मैं रोक लूँ उत्पात ।"

यह सुना तो हो गई श्री से विषाली हीन,
शांति झलकी एक क्षण को, ज्यों निशाकालीन;
पर तुरत ही रोक कर मन के निराश्रित भाव,
कर्ण के सम्मुख रखा था रोषमिश्रित दाव—

"पर झुके क्यों ? यह कहाँ दीदी के हित में, नाथ !
हूँ विकल कि सन्निकट है काल का उत्पात;
रोकिए यह ! क्रूरतम है भाग्य का यह खेल,
चुप हुये हो, पाप की जब बढ़ रही है बेल ?

"क्या पुतलियाँ हम कि नाचें परपुरुष-संकेत ?
नर अचल है और नारी शून्य में बस रेत ?
जो अधम को धीर बन देखे, तो यह भी पाप,
नाथ मेरे वीर हैं, तो लें नहीं अभिशाप !

"क्या लिया निर्णय है कहिए, जानूँ मन की बात,
भोर के मणि भाल पर कैसी ये पसरी रात !
मित्र का सम्मान होगा, आ त्रिया का मान ?
देखती हूँ दोपहर में डूबता दिनमान !"

कर्ण को भी छू गई बातें, जली-सी रेत,
यूँ लगा ज्यों विस्मृति को आ गया हो चेत;
पर हृदय-मन शांत पहिले-सा, नहीं आवेग,
बाँसुरी-स्वर में कहा नभ के हटाते मेघ—

''व्यर्थ है शंका तुम्हारी, मैं सुयोधन साथ,
अब सुनो, मैं हूँ सुनाता, गुप्त जो है बात–
द्रोपदी की भक्ति को शिव ने दिया वरदान,
'पाँच पति तुमको मिलेंगे, यह तो निश्चित मान;

'क्योंकि तुमने क्रम से मांगा वर है पंचम वार
पाँच वर तुमको मिलेंगे, वर करो स्वीकार ।'
''द्रोपदी का मन थका-सा लग रहा था श्रान्त,
घिर गया मणिदेश में हो ज्यों सघनतम ध्वांत ।

''कुछ नहीं थी बोल पाई, कर गई स्वीकार,
जल रहा था नील मणि का ही मृदुल संसार;
यह कथा गुरु से सुनी थी, पापहरणी पास,
देवता के वर बहाने भाग्य का उपहास ।

''और जब मुझको, सुयोधन से मिला संवाद,
वह कथा मुझको अचानक आ गई थी याद;
सोचकर यह, हो कोई, पर मैं नहीं निरुपाय,
एक नारी पर नियति का, भाग्य का अन्याय !

''ले लिया निर्णय कि विधि का चल न सकता दाव,
रोक लूँगा धार को जिसमें फँसी है नाव !
नर वही जो नारी का रख कर चले सब मान,
टूट न जाए कहीं से स्वर्ग की मृदु तान ।

''सृष्टि यह मधु गंध से सुरभित, सुधामय, सौम्य,
तब चमकता है जगत यह बन निशा में धौम्य;
पाप है वह, नारी मन के जो हुआ विपरीत,
शोर बन जाता वही जब टूटता संगीत ।

"जो रहा भयभीत, मन को कर सकूँ मैं शान्त,
भ्रान्त जितना हो चुका है, अब नहीं हो भ्रान्त;
जानता हूँ, मिटने से इससे रहा भी दोष,
पर मिलेगा कुछ तो मेरे मन-हृदय को तोष ।

"चाहता कब हूँ, वृषाली, छोड़ जाऊँ अंग,
मेघवन में यह तुम्हारा कल्पतरु-सा संग !
पर विवश हूँ, आ रही है जैसे कोई हाँक,
मैं खड़ा कर्त्तव्यपथ पर मन लिए दो फाँक ।

"तुम इधर हो, मेघवन है, पुर-महल के लोग,
देवता को भी कहाँ है प्राप्य ऐसा भोग !
सुरनदी के तीर पर यह अंग मेरा देश,
ज्यों विभांडक मुख से निकला हो अमर उपदेश ।

"ऋंगऋषि के पुण्य का खिलता कुसुम यह चम्प,
काम-रति के साथ से हो देह का मृदु कंप !
पर नहीं इतना ही मेरे पूर्वजों का अंग,
कर्ण-ग्रीवा से लटकता मणि-किरण का संग ।

"है निमंत्रण, तो मुझे भी छोड़ना है नेह,
शीघ्र ही पर लौट आऊँगा पुनः गृह-गेह;
उस समय तक भार तुम पर, तुम सँभालो राज,
जिस तरह तुमने सँभाला है सहज गृहकाज ।

"पूर्ण होते कार्य लौटूँगा तुरत अविलम्ब,
भीगने देना नहीं किंचित कभी ये अम्ब;
तुम हँसोगी, तो हँसेगा अंग का हर छोर,
रात में भी हँस पड़ेगा रोज स्वर्णिम भोर ।

''लौटें वृषाली, अब निशा भी हो गई है मौन,
नींद को देता निमंत्रण मेघवन में कौन;
पत्तियों पर सो गई हैं पलक मूँदे ओस,
चुप है गंगा और चानन, चुप सहस्त्रों कोस ।''

हो रही पदचाप; साँसे मालती की
धड़कनें उड़ती पावन पर है नदी की ।

प्रतिज्ञा पर्व
(सर्ग दस)

अमा निशा की घोर तमस है फैली हुई सभी ही ओर,
श्यामा के चरणों के नीचे दबा हुआ है श्यामल भोर ।
कभी-कभी बस दूर कहीं पर टिटही की उठती चित्कार,
जिससे करवट लेता रहता जमा हुआ तम का संसार ।

लेकिन अब भी देवनदी का बंद नहीं है सुर-संगीत,
घोर निशा की घनी कालिमा भीतर-भीतर है भयभीत ।
कुंजरपुर का थमा हुआ है अब भी साँसों का व्यापार,
निपट शांति में निद्रालस है गजपुर का फैला संसार ।

एक कोट ही जाग रहा है अनल शलाकाओं के बीच,
जीवन का संकेत नहीं है, दूर कहीं या कहीं नगीच ।
जाग रहा है अब भी लेकिन कर्ण कोट में लेटा शान्त,
इतना कभी नहीं था वह तो जितना दिखता है उदभ्रान्त ।

आँखें अपलक टँगी शून्य से, भौंहों पर चिन्ता का भार;
लुटी गई हों निधियाँ सारी, खुला पड़ा हो घर का द्वार ।
उठा बिना आहट के हौले, निकल गया गंगा की ओर,
अब भी श्यामा के चरणों में दबा हुआ है श्यामल भोर ।

बैठ गया वह वही शिला पर, देखा दूर क्षितिज के पार,
जाग उठा पांचालराज का आँखों में झिलमिल संसार।
खुलने लगीं विगत की बातें, बजते हैं सुधियों के छंद,
मन-ही-मन में बोल रहा है कर्ण किए आँखों को बंद—

''सजा स्वयंवर कोट बीच में, स्वर्णखंभ वे चारो ओर,
देश-देश से आए नरपति देख-देख कर ठगे विभोर।
जरासंध ही नहीं युयुत्सु, दुःशासन, दुर्योधन, भोज,
और सभी के बीच गूँजता धृष्टधूम्र का घन-सा ओज ।

''पहुँची थी मंडप समीप तब कृष्णा लिए करो में माल,
आँखों में आकाश लिए तब चकित खड़े थे सब दिकपाल ।
कृष्णा की काया से आभा उठती थी; ज्यों उठता भोर,
नरपति के मन विहगवृंद-से कलरवपूरित अथा-अछोर ।

''कैसा कठिन धनुष था भारी और लक्ष्य का भी संधान,
पीत पर्ण से टूट-टूट कर गिरते राजाओं के मान ।
मैं जब उठा लक्ष्य वेधने कृष्णा बढ़ी उठाए हाथ,
'अरे, सुत से कैसे होगा मेरा आजीवन का साथ ।'

''छूट गया था धनुष हाथ से लक्ष्य साधना कोसो दूर,
स्वप्न सजाए जो आया था, टूट गिरा वह चकनाचूर ।
समझ नहीं पाया मैं कुछ भी आखिर हेय बना क्यों सूत ?
लेकिन देर लगी न मुझको, समझ गया था मैं आकूत ।

''कृष्णा का तन अग्नि शिखा-सा दमक उठा था बनकर लाल,
कंपित थे कण्ठा, कंगन और लाड़ी बनकर चंचल व्याल ।
हँसुली और उमेल, पाटियाँ, दुलरी, तिलरी, चंदन हार,
कृष्णा के रंग में डूबे थे आभूषण सारे शृंगार ।

''मैंने शुरु से ही जानी थी जन्मकथा कृष्णा की गूढ़,
भ्रमवश भूल गया था सब कुछ, मैं कितना हूँ सचमुच मूढ़ ।
था संकेत द्रोण गुरु का ही, 'द्रुपद बंदी हो', का आदेश,
पार्थतेज से पांचालों का बदल गया था घर-परिवेश ।

''उसी आग की संतति हैं यह, धृष्टधूम्र-कृष्णा के रूप,
इस रहस्य से कौन भिज्ञ है, छोड़ द्रुपद को कोई भूप ?
माना कि कृष्णा न जाने-पहचाने न पांडव पाँच,
इसीलिए न उधर जा सकी प्रतिहिंसा की उठती आँच ।

''लेकिन कैसे द्रुपद रहे थे पांडव से ? ब्राह्मण के भेष,
छुपा नहीं अब कुछ भी मुझसे; ज्ञात नहीं क्या ऐसा शेष ।
पांडव के पीछे से अब तो कुरुकुल का होना ही नाश,
छूट चुका है महाकाल के सर्वनाश का टोना-पाश ।

''शिव का रीता नहीं गया है पंचकान्त का वह वरदान,
और इसीके साथ डूबता मैं देखूँ कुरु का दिनमान ।
मति मारी है गई सभी की बुद्धि इसीसे भटकी, भ्रान्त,
यह आँधी भी नहीं रुकेगी, जब तक ताप नहीं है शान्त ।

''लक्ष्यभेद करने वाला वह अर्जुन नहीं, तो है यह कौन ?
विप्रभेष में यह परिचित-सा बैठा है दम साधे मौन ।
यही जाँचने को स्वयंवर में अर्जुन की रोकी थी राह,
गज को जैसे गहरे नद में पकड़ घसीटे कोई ग्राह ।

''वह तो तत्क्षण जान गया मैं, विप्र नहीं हैं, पांडव पाँच,
मिथ्या के हिरणों की चलती अधिक समय तक नहीं कुलाँच।
अगर चाहता द्वन्द्व ही सचमुच, तो टिक पाता आगे कौन ?
आखिर कुछ तो सोच-समझकर इसके बाद रहा मैं मौन ।

''क्या अर्जुन, क्या भीम, युधिष्ठिर और नकुल क्या या सहदेव,
कूल-किनारे कब टिक पाते जब उठता चानन का ढेव ।
चम्पा की तो एक हाँक पर चू जाता नीचे आकाश,
थम जाता है कालचक्र तक, रुक जाता है यम का पाश ।

''इसी भीम को जंजीरों में बाँध डुबोया था एक बार,
किसको पता नहीं है इसका, जाने क्या केवल दो-चार ?
जो प्रारब्ध, वही तो होना, रोका अपने को यह सोच,
और नहीं तो 'सूत' कथन पर रख लेता मैं हृदय दबोच !

''ज्ञात सूत का अर्थ उसे क्या, क्षत्रिय-ब्राह्मण का यह योग,
तात क्षत्रिय, हो माँ विप्राणी सूतवंश का यह संयोग ।
कभी वंश पर, कभी कर्म पर, नर-मुनि, जो भी उलीचे कीच,
अंगपुत्र मैं घोषित करता, सभी प्राणियों में वह नीच ।

''लेकिन मुझको तो चिन्ता है हस्तिनपुर की ही दिनरात,
जो कुछ घटा स्वयंवर में था, वह क्या है छोटी-सी बात ?
कृपा, द्रोण-आँखों में जो झलका था वह पांडव का मोह,
गुरु की मुझ पर क्रोध-घृणा वह, कहाँ भूलता हूँ मैं, ओह !

''और कृष्ण की भेदभरी वह मानसरोवर की मुस्कान,
चाहूँ सब कुछ भूल चलूँ, पर वहीं लौट जाता है ध्यान ।
भीष्म पितामह की आँखों में मेरे लिए घृणा का भाव,
और विदुर क्या कम रखते हैं, मुझसे दूरी, भेद, दुराव ?

''एक नीति बस, क्रिया शल्य की, क्या असह्य है मेरी पीर,
अगर देवता भी होता तो हो उठता वह बहुत अधीर ।
लेकिन मैं झुक जाऊँ, यह तो कभी नहीं संभव-आसान,
कर्ण अगर नवनीत कहीं तो और कहीं पर्वत-पाषाण ।

''यह बुढ़िया आँधी क्या मुझको कभी सकेगी भी झकझोर ?
मंद्राचल क्या कभी हिलेगा, भले लगाए जी भर जोर।
इसमें दोष कहाँ है मेरा, अगर सुयोधन के मैं संग ?
वह मुझको जब अंग समझता, मैं भी उसका अपना अंग ।

''अब तो मित्र नहीं है केवल, साढ़ू का रिश्ता-संबंध,
ऐसे कैसे टूट चलेगा जीवन भर का जो अनुबंध ।
मैं ही कहाँ चाहता हूँ यह, पांडव के हित का अवसान,
लेकिन जहाँ टिका था मेरा, वहीं टिका है अब भी ध्यान ।

''द्रुपद कभी क्या हो सकते हैं हस्तिनपुर के हित में साथ ?
शाप छुपा है, वर देने को उठा हुआ जो ऊपर हाथ ।
अब तो दृढ़ यह और हो गया, मिथ्या न मेरा विश्वास,
भरी सभा में क्यों होता है बार-बार मेरा उपहास ।

''सूतवंश की ज्ञात नहीं है किसे कथा उज्ज्वल छविमान,
इसीलिए तो छोड़ गए हैं अंश यहाँ अपना दिनमान ।
अंगदेश के नृप अधिरथ का, उनके यश का अंश-प्रतीक,
अब मुझको चाहे जो कह ले, काल कहेगा कितना ठीक !

''कुंजरपुर को छोड़ नहीं मैं सकता हूँ संकट में देख,
खिंची आ रही भाग्यपटल पर जो विनाश की काली रेख ।
भीष्म पितामह से लेकर यह कृपाचार्य को होगा ज्ञात,
लेकिन कृष्णा को लेकर सब चुप हैं, जहाँ निकट उत्पात ।

''यह विनाश की एक कला है, खिंची हुई टेढ़ी-सी रेख,
जो भविष्य में घटने वाला, उसका कौन लिखेगा लेख !
अगर सुयोधन नीति मुताबिक धर लेता है सीधी राह,
मिट जायेगा द्वेष द्रुपद का, उनकी जो कुछ भी है चाह !

''राज्य नहीं केवल संकट है, छिपा हुआ है भीतर मूल,
निकट-निकट ही शांत पवन है, आगे तो बस अंधड़-धूल ।
राज्य द्रुपद को बहुत अधिक है, दे सकते थे अपना राज,
लेकिन उनको रोक रखा है, उनके भीतर बैठा बाज ।

''मेरे मन का भय है ऊपर, दबा हुआ था अब तक मौन,
अब विराट ले रहा रूप है, अँगुल भर का वामन बौन ।
लेकिन ज्ञात हुई जब होगी मेरी कुटिल अनोखी चाल,
जीत स्वयंवर दुर्योधन के कर में दूँ कृष्णा को डाल ।

''इसीलिए थी अग्नि अचानक; लपटें बन कर फूटे वाक्,
मिट्टी का घट फूट चुका था, टूक हुआ था पूरा चाक ।
टूट गया होगा तब कैसा मन का शरत भरा आकाश,
छूट पड़ा था इसी बात पर वाणी का विष फेनिल पाश ।

''प्रेम चाहता ही है मन का पूर्ण समर्पण संग विश्वास,
और अगर यह नहीं मिले तो वही पवन उठते उनचास ।
तन का लोक, लोक में मन का सौरभ से संचित संचार,
क्षुद्र बुद्धि से घिरा रहा मैं तोड़ हृदय का वह आभार ।

''मैं ही नहीं समझ पाया था अपने मद में अपना दोष,
बस उतारता ही रहता हूँ झूठा व्यर्थ सभी पर रोष ।
लेकिन अब तो सिंधु-ज्वार ही, और विन्दु-सी दिखती नाव,
फिर क्यों कूल-किनारे पर होने का उठता मन में भाव !

''अब तो कुरु-कुरुपति का केवल प्रश्न यहाँ पर पसरा शेष,
फिरता है जो ब्रह्मभूत का लिए हुए कापालिक भेष ।
देख रहा हूँ नियति नटी को जो कुछ खेल रही है खेल,
राजभवन का छल-अनीति से भीतर-भीतर बढ़ता मेल ।

''माँ गंगे, इतना अब बल दो, रोक सकूँ यह टेढ़ी चाल
उठा सके कुछ और अंग यह हस्तिनपुर का ऊँचा भाल ।
उठा सुप्त सागर में ज्वारें, काँपे नभ में छाया नील,
छत्र ज्ञान का हिले, अभी भी लक्ष्य वेध पर संयत भील ।''

फड़की बाहें, चमकी आँखें, कर्ण हुआ कुछ अधिक सचेत,
कुछ-कुछ हेम रंग में डूबी गंगा की चाँदी-सी रेत ।
अभी क्षितिज पर दिखा नहीं है सूर्य रश्मियों का मृदु भोर,
अनजाना सुख कर्णहृदय में मचा रहा है कलरव-शोर ।
लौटा कर्ण भुजाओं में भर नवजीवन का ले कर वेग,
तपते हुए जेठ पर श्यामल पड़ते हैं सावन के डेग ।

स्वप्न पर्व
(सर्ग ग्यारह)

खुली हैं कर्ण की आँखें, निकट के दृश्य ओझल हैं,
अगोचर, जो नजर से दूर हैं वे स्वप्न कल्पित;
किसी की है प्रतीक्षा में, नहीं इसकी भी सुध है कुछ,
बहुत ही दूर चम्पा से सभी कुछ दृष्टि में शिल्पित ।

कभी तो बहुत जड़वत, देह में सिहरन नहीं कुछ भी,
कभी तो हो उठे चंचल अधर द्वय, कुछ कहेंगे अब;
मुदा मन चुप कहाँ है, बोलता ही जा रहा है वह,
पता कुछ चल सका न हस्तिपुर पहुँचा था कैसे कब ?

कई रंगों में डूबा है बहुत ही आज हस्तिनपुर,
गुलाबी हो रही है, पारदर्शी अब हवाएँ हैं;
सरोवर-झील का पानी अमिय-सा हो रहा मीठा,
विचरते ये कहाँ से श्वेत नीले मेघ आए हैं !

खड़े हैं वृक्ष ओढ़े रेशमी पट स्वर्णकिरणों के,
सजाया मेंहदी से अंग अपना है लताओं ने;
वनों की पत्तियों ने गीत गाए हैं गले लगकर,
गुँजाया है गगन को हारिलों से मिल सुआऊँ ने ।

हुई है नीति-नय की जीत लौटे हस्तिपुर पांडव,
हुआ निर्णय है खांडव वन मिलेगा पांडवों को अब;
विदुर, कृप, द्रोण भी खुश हैं, कहीं से कुछ तो अच्छा है,
बहुत आसान होगा झेलना बाकी दुखों को अब ।

किसी से कम नहीं संतोष है राधेय के मन में,
सुयोधन को मनाया, तो कहीं राजी हुआ है वह;
मिली है पांडवों को मुक्ति अब वनवास के दुख से,
खुले सीपी के मुँह में स्वातिरस जैसे चुआ है अब ।

हुआ जैसे हो, आखिर टल गया है युद्ध भारी,
यही सब सोचकर है कर्ण को भारी खुशी मन से;
''किया संतोष लेकर पांडवों ने वन सघन पाकर,
कहाँ कुछ घट गया है कौरवों का इस घटे वन से ?

''भटकती थी वनों में द्रौपदी-कुन्ती उठाये दुख,
मिलेगी अब दुखों से मुक्ति, वह वन-वन भटकने से;
दिखेगा नील नभ का रूप अब तक जो छुपा सबसे,
खुलेंगे इन्द्रधनु के रंग सातो, मेघ छटने से ।

''खुशी के दिन गये न थे, मिला संवाद मुझको यह
जलायेंगे खिले पांडव मिले खांडव विपिन को अब;
सुना तो हो गया व्याकुल बहुत ही मैं तो तन-मन से,
कहाँ यह वेदना सबको जलाती, पीर किसको अब ?

''विपिन खांडव नहीं बस, एक जंगल पशु भयावह का,
वहाँ तो बस रहे हैं नागकुल के लोग सदियों से;
बहुत भोले अहिंसक, जाने कब ये अंग से आए,
रखा है दूर अपने को बहुत ही भूमिपतियों से ।

''नहीं ये जानते पुर के नियम-बंधन या भूपति को,
किसी का छीनकर जीना इन्हें न आजतक आया;
लुटाते ही रहे हैं ये हृदय के प्यार-खुशियों को,
जहाँ पर जेठ को देखा वहीं मन मेघ बन आया ।

''नहीं इनको सिंहासन चाहिए, न धन-प्रतिष्ठा ही,
जरूरत भर मिले तो इनका मन-सागर उमड़ता है;
कभी भी भोग, यश, वैभव के पीछे ये नहीं दौड़े,
किसी की आँखों में इनका भला क्यों मोद गड़ता है ?

''वनों को पूजते जो और वन ही घर-बिछौना है,
कुसुम के देश के ये नील श्यामल आदिवासी हैं;
कभी समझा न खांडव वन को भूमि यह पराई है,
भले मंदार-वन से ये यहाँ आए प्रवासी हैं ।

''कहाँ कुछ भेद ही जाने, नगरवासी नहीं है ये,
धरा पर स्वर्ग के संदेश हैं, मन की कहानी हैं;
मिला था जिनको भुजबल से अमिय का कुंभ सागर में,
उन्हीं व्रतधारियों के वंश की ये भी निशानी हैं ।

''हुआ क्या, फिर हिली धरती,गगन गरजा, खड़ा था सिंधु भी तो,
डरे तो आ गये थे झुंड में पैदल ही चल कर ये;
नगर का शोर, विधि-शासन इन्हें न रास आता था,
समय बीता बसे वन में यहाँ से फिर निकल कर ये ।

''उसी खांडव विपिन में आग की बारिस करेंगे ये,
जला जो वन, कहाँ जाएंगे ये जीवन-सुरक्षा में ?
कहाँ जाएंगे, क्या होगा बेचारे नागवंशी का ?
सभी जल जाएंगे, मर जाएंगे अपनी मुमुक्षा में !

''सुना है इस समय बाहर कहीं तक्षक निवसते हैं,
अगर कुरुक्षेत्र में हैं, किसलिए हैं, कौन यह जाने !
बचा नेतृत्व को बस अश्व बालक, क्या करेगा वह,
समझ ही क्या सकेगा, जाए जो कोई भी समझाने ?

''भरोसा ही नहीं होता है मुझको पांडवों पर कुछ ?
लगाई आग सातो बार, निष्फल पर रहे हैं वे;
जला कर मार डालें नागकुल को, दानवों को भी,
प्रयासों में अभी भी हैं, यही तो कर रहे हैं वे ।

''नहीं विश्वास होता, अब नहीं ऐसा करेंगे वे;
भले ही धर्म का चोला पहनकर संत दिखलाएं;
हृदय का लोभ मरता ही नहीं है पांडवों का तो,
यहाँ से कट के वनवासी भला किस देश को जाएं ?

''भयावह स्वप्न कैसा था जो देखा रात को मैंने,
समूची देह जैसे अग्नि की लपटें सिहरती हों;
खुले मुख से निकलते बोल ऐसे लग रहे थे; ज्यों,
किसी ज्वालामुखी से आग को नदियाँ ही गिरती हों ।

''अचम्भे में पड़े थे कृष्ण तक भी, कौन सम्मुख हैं,
बिना पूछे कहा था उस पुरुष ने कि 'अनल हूँ मैं;
बहुत ही तुष्ट था मैं श्वेतकी के यज्ञ-कुंडों से,
उसी के बाद से ही मैं क्षुदित हूँ, यूँ विकल हूँ मैं ।

'क्षुदा मेरी मिटेगी जब जलेगा यह विपिन सारा,
मिलेगी शान्ति मुझको, इस क्षुधा को, इस क्षुधित मन को;
कई ही बार चाहा हूँ जला दूँ एक पल में मैं;
कठिन मेरे लिए है रोक पाना पर घने घन को ।

''जभी चाहा, उमड़ आए हैं काले मेघ अम्बर में,
बुझा जाता है दीया फूँक से कोई, यही लगता;
अगर यह काम संभव है तो केवल कृष्ण-अर्जुन से,
उठा जो बोध मन में है, वही बिल्कुल सही लगता ।'

''सुना जो यह, कहा अर्जुन ने 'लेकिन अस्त्र भी तो हो,
कि रोका जा सके जो विघ्न-बाधा आ घिरेंगे ही;
धनुष, रथ, चक्र, तरकश और वैसा ही गदा भी हो,
मिलेंगे ये, जलेंगे नाग-वन, निश्चित घिरेंगे ही ।'

''कहा उस देव ने, 'अर्जुन, अभी सब कुछ दिलाऊँगा,
वरुण से बोलता हूँ, एक क्षण में आ मिलेंगे सब'
कहाँ से तीर-तरकश आ गये, गांडीव अक्षय वे,
मिले कौमोदगी, रथ, चक्र, अहिकुल ज्यों जलेंगे अब ।

''उठाया तीर-तरकश और फिर गांडीव अर्जुन ने,
लिया था चक्र केशव ने, चढ़े ले कर गदा रथ पर;
जहाँ खांडव खड़ा था मुस्कुराता व्योम को छूकर,
निकल दोनों पड़े थे हाँकते रथ को उसी पथ पर ।

''शरासन तान कर मारा; ज्यों, बरसी तीर से आगिन,
कड़क कर बिजलियाँ काँपी, बहुत ही मेघ गरजे थे,
कहाँ लपटें रुकी थीं, मेघ तक को थीं जला जातीं,
उठे वायव्य अस्त्रों से भयावह दृश्य सिरजे थे ।

''बचा हयसेन ही, बस नागकुल में, जल गए थे सब,
कहीं आँसू बहाने बच गया था और तक्षक भी;
किसी कायर पुरुष-सा इन्द्र केशव की शरण में थे,
कहीं क्या भीरू होता है बली, नृपराज रक्षक भी !''

अभी कुछ सोचता, चिन्ता उठी शंकाएँ लेकर फिर,
''कहीं वह सत्य ही न हो, कहाँ यह झूठ लगता है !
बहुत चाहा है ऐसा, मैं भुला दूँ स्वप्न आँखों के
खड़ा फिर सामने होता, कहाँ से आ धमकता है ।

''फड़कती है भुजाएँ मेरी ये आँखें फड़कती हैं,
हुआ ऐसा अगर, जो स्वप्न में मुझको दिखा है अब;
भले ही कृष्ण का हो साथ अर्जुन को न छोड़ूँगा,
जला खांडव अगर, तो नाश उसका भी लिखा है अब ।

''यहाँ तक सोचना पर व्यर्थ है इस स्वप्न में पड़ कर,
पता है पांडवों को नागकुल का कौन रक्षक है,
कहे खांडव कोई क्यों, वह मेरा तो मेघवन ही है,
बचेगा किस तरह से कर्ण से जो विपिनभक्षक है !

''यही क्या सोचकर इस्थिर बने रहना उचित होगा ?
भलाई बस इसी में है कि कुंजरपुर निकल जाऊँ,
कभी देखा नहीं ऐसा भयावह स्वप्न जो देखा,
कहीं कुछ घेरती शंका अगर है, तो सँभल जाऊँ ।

''नहीं, कृष्णा ही होगी शांत, ज्वाला से उठी ज्वाला,
वही खांडव विपिन को भय दिखाती भीष्म ज्वाला है;
सभी को काल के मुँह में बिठाने के लिए उद्धत,
तरीका क्या भयावह पांडवों ने यह निकाला है ।

''नहीं ऐसा नहीं कुछ हो सकेगा मेरे जीते जी,
हुताशन खेल खेले और नभ पर मेघ मुस्काए;
नहीं यह धर्म भारत का, नहीं यह अंग का ही है,
किसी की पीठ पर हो घात; अपना पेट सहलाए ।

''यहाँ चम्पा में मेरा तन, वहाँ है हस्तिपुर में मन,
न जाने कौन सा संकट उठाए पंख आ जाए,
सुयोधन साथ में रहना उचित है, छोड़ चम्पा को,
वही तो है मनुज जो धर्म संकट में बचा जाए ।

''मुझे मंदार की सौगंध, चानन, चीर की भी है,
निभाया धर्म है मैंने, निभाता ही रहूँगा मैं;
यही तो अंग से सीखा है मैंने, भूमि चम्पा से,
सुबांधव के लिए अपने हृदय पर सब सहूँगा मैं ।

''अगर इसके लिए यह अंग मेरा छूटता, तो क्या,
बचा पाया अगर जो हस्तिपुर को, धन्य हूँगा मैं,
जहाँ भी कर्ण होगा, अंग की चम्पा वहीं होगी,
विपद में पीठ देने का भला क्यों शाप लूँगा मैं ?

''मुझे करना क्षमा ! हे अंगकुल की भगवती देवी,
नहीं है भाग्य में मेरे, यहाँ पर जन्म यह बीते;
अगर जीवन मिला, तो शीघ्र ही मैं लौट आऊँगा,
निवेदन है, कहीं घट हो, तुम्हारा प्रेम न रीते ।

''मिले, कुछ न मिले लेकिन मिले यह अंगचम्पा फिर,
इसी की भूमि में मेरी समाए देह-काया यह;
बचा जो कुछ यहाँ पर द्वेष, ईर्ष्या, छल, कपट, यश तक,
जगत इस दृश्य की है चमचमाती मोह माया यह।''

उठा यह सोच शय्या से निकल बाहर चला आया,
वृषाली भी नहीं यह जान पाई क्या हुआ पल में;
चहक कर एक चिड़िया चुप अचानक हो गई है ज्यों,
दिशा से दिग्जयी तक दिख रहे हैं घोर हलचल में ।

अचानक जुड़ गये हैं हाथ दोनों कर्ण के तत्क्षण,
मुँदी आँखें, अधर चंचल-से, कुछ-कुछ बुदबुदाते हैं,
उठे जो शब्द, वन के प्रान्तरों से घूम कर आते
जिन्हें ही चन्दना की धार और मारूत सुनाते हैं;

''क्षमा हे अंगमाता, दो विदा, कर्त्तव्य करने को,
मुकुट के मान रखने में, सँवरने या बिखरने को;
नहीं मैं छोड़ सकता बन्धु-बान्धव यूँ हहरने को ।
यहाँ तैयार है जब शीश मेरा ही उतरने को।

''क्षमा हे अंगमाता, क्या पता तब लौट पाऊँगा,
नहीं निश्चित है कुछ भी; अब अनिश्चित, क्या सुनाऊँगा;
अगर लौटा तुम्हारे वास्ते वह भोर लाऊँगा,
तुम्हारे द्वीप, गिरि, वन को उसी से मैं सजाऊँगा ।

''क्षमा हे अंगमाता, हाँक दे कोई बुलाता है,
वही फिर नींद में झकझोरता, मुझको जगाता है;
नहीं कुछ जान पाता अर्थ, वह जो कुछ सुनाता है,
पता है नियति को, क्या चाहता मुझसे विधाता है ।''

सिहरती हैं हवाएँ, भूमि कम्पित, चीर-चानन तक,
गगन तक दिख रहा कम्पित तो कैसे इस निशा में है;
सभी दिक्पाल की आँखें उनींदी और इस्थिर हैं
उधर कुछ धूमकेतु-सा दिखा पश्चिम दिशा में है ।

वृष पर्व
(सर्ग बारह)

तम को छोड़ क्षितिज पर जाता हेमकुम्भ, अलसाया,
उड़ता हुआ पवन के पथ से स्वर्णहंस है आया;
जाग रहीं कोने-कोने में साँसें हैं दीपों की,
मोती की बारात लगी है, महारास सीपों की ।

नभ से नीचे उतर पड़े हैं एक साथ सब तारे,
नभ को छूते प्रासादों, कोटों का लिए सहारे;
मुग्ध भाव से उतरा नीचे कर्ण बढ़ा फिर आगे,
मन की सारी शंकाओं को, अशुभ शकुन को त्यागे।

यह भी भय है राजमहल पर कैसी गहन उदासी,
किसी देव पर रखा हुआ ज्यों नील कुसुम हो बासी;
खड़ी हुई सम्मुख सेनाएँ करे कर्ण का स्वागत,
ज्यों नक्षत्र हो पंक्तिबद्ध से, पाकर निकट तथागत ।

चलकर तेज-तेज चरणों से सम्मुख हुआ सुयोधन,
जैसे गले लगाया उसने, कुछ भी रहा न गोपन;
लगा कर्ण को, गिरि के भीतर सुलग रही है ज्वाला,
धुआँ-धुआँ-सा सानु सुनहरा, तम में घिरा उजाला ।

पूछा, ''ऐसी बात हुई क्या, जो प्रकाश पर तम है,
आँखें कुछ सूखी-सूखी-सीं, कण्ठ लगे कुछ नम है ?
कभी नहीं यह मैंने देखा कम्पित खुले गगन को,
आज सुयोधन बाँध रहा क्यों मन के मुक्त पवन को ?

''क्या अनहोनी हुई या होगी, मित्र तुरत बतलाओ!
और नहीं सम्भ्रम में डालो और नहीं भरमाओ !
मैं हूँ तब चौवाय, मित्र पर अगर विपद-घन छाए,
प्राणों को नभ में उछाल दूँ, मन मेरा ललचाए ।''

लिए कर्ण को साथ चला वह, कर में कर को डाले,
कितनी बातें उबल रही थीं, लेकिन सभी सम्हाले;
आते-आते अधरों पर जा छुपा कहीं था गोपन,
बस इतना ही बोल सका था, हो गंभीर सुयोधन ।

''चलो कक्ष में पहले बैठें, तब होगी सब बातें,
कैसे काटी हैं मैंने वे कठिन प्रेत की रातें ।''
चलकर आए गुप्त कक्ष में, कहने लगा सुयोधन,
एक-एक कर सब बातों का होने लगा वियोजन;

''कर्ण अभी भी भूल सका न हँसी-व्यंग्य की बोरी,
'अंधे का सुत अंधा ही है' जी पर नीम-निबोरी ।
कृष्णा का वह व्यंग्य-तीर तो हिय में धँसा हुआ है,
गेहुँअन बन फुँफकार रहा है, मन में बसा हुआ है ।

''मैं फिसला तो पांडव का था कैसा खुला ठहाका,
निश्चय काँप गया होगा तब रोम-रोम वसुधा का ।
यह सब हुआ, नहीं दुख मुझको, दुख तो अब इसका है,
प्रश्न यहाँ तो उठा हुआ है कुंजरपुर किसका है ?

''धीरे-धीरे फैल रही है इन्द्रप्रस्थ की सीमा,
पांडव की बढ़ती जाती है छुपा भाव वह भीमा;
इसी भावना के कारण ही खांडव विपिन जला है,
मुझको लगता है संकट का बादल नहीं टला है ।''

खांडव के जलने की बातें सुनीं, कर्ण अकुलाया,
क्या कुछ कहा सुयोधन ने फिर, कहाँ सुना, सुन पाया;
बन्द हो गईं उसकी आँखें अपने आप अचानक,
लगे घूमने उन आँखों में जलते दृश्य भयानक ।

मन पर जमती-सी चिंता से झुका अचानक माथा,
सुनता क्या आगे की बातें, रविसुत बोल उठा था—
लंबे, हरे-भरे, वृक्षों का वह संसार जला है,
जो धरती पर पुरुष-प्रकृति की अद्‌भुत एक कला है !

''जो धरती पर सुख की छाया, साँसें हैं वसुधा की,
वन की ममता अगर मिले, तो कहाँ रहा कुछ बाकी!
उसी विपिन को लील लिया है पांडव की इच्छा ने,
घेर लिया है मन-प्राणों को कैसी इस पृच्छा ने !

''तब क्या नाग बचे ही होंगे, खग-कुल या फिर दानव,
राज्यप्राप्ति का लोभ हलाहल, उदधि-मथन का आसव।
आखिर में हो गया वही तो जिसका था अन्देशा,
जिसको टाल रहा था मन से, वही मिला सन्देशा।''

सहसा तनी रीढ़ हड्डी की कसीं मुट्ठियाँ औचक,
आँखें खुलीं कहीं पर इस्थिर; औघड़ का ही त्राटक;
बाहें फड़कीं, गहरी साँसें, टेढ़ी भौंहें क्षण में,
अधर, अधर से दबे हुए हैं, रक्तिम मुँह है प्रण में।

मुष्ठिघात जंघों पर करता रह-रह कर रविसुत है,
कभी शांत तो कभी रौद्र में, मेघ-अनल से युत है;
मन में उठता द्वन्द्व द्वन्द्व पर उसे रोक कर बोला,
दुर्योधन के सम्मुख अपनी शंकाओं को खोला—

''तो क्या साथ दिया न तब भी सुरपति ने ही आकर,
नागों को उस घोर विपद में, संकट में भी पा कर ?
यह तो मित्रता के संग छल है, गला दबाना नय का,
दोषी तब सुरपति भी होंगे, इस विनाश, इस क्षय का।''

कहता आगे और कर्ण, पर बोला तभी सुयोधन,
एक-एक कर लगा खोलने, जो कुछ भी था गोपन—
''नहीं, कहीं से इन्द्रदेव का इसमें दोष दिखाता,
यह तो झूठ सरासर होगा, कोई अगर बताता ।

''सुरपति को बुढ़िया आँधी ने जो संवाद दिया था,
जो कुछ करना उन्हें तुरत था, वह सब तुरत किया था।
पल में बादल खूब गरजते, वन पर छा आए थे,
अब क्या करना, यह केशव तक सोच नहीं पाए थे ।

''पर वायव्य तीर से बादल तितर-बितर हो आए,
खांडव वन से दूर-दूर घन बिना नीर बरसाए ।
तब बचाव में सुरपति ने ही ऐसा तुरत किया था,
मंद्राचल के एक सानु को कर में उठा लिया था ।

''और उसे फेंका था ऐसा, गिरे ठीक अर्जुन पर,
धूमकेतु ही भीषण कोई, या फिर यम का वामर,
पर गिरने से पहले ही वह टुकड़े में बँट आया,
सानु भाग पर अर्जुन ने कुछ ऐसा लक्ष्य लगाया ।

''तीन खंड हो गिरा सानु वह, धूमकेतु ज्यों नभ से,
गिरा सिंधु सागर में एक तो, उदधि उबलता तब से ।
खांडव वन पर गिरे शेष दो, बचे नाग क्या बचते,
तब विपरीत काल ही समझो; रक्ष कवच क्या रचते ?''

''जिसके साथ लगा है केशव, उसका अहित कठिन है,
हस्तिनपुर की भाग्यरेख तो बनी हुई धामिन है ।''
दुर्योधन के कंधो पर रख अपने खुले करों को,
कुछ क्षण शांत रहे रविसुत ने खोला था अधरों को–

''फिर तो कुछ करना ही होगा जितनी जल्दी हो यह,
बाहुशक्ति के लिए भला क्या ऐसा भी है दुर्बह !
क्या होता है, कृष्ण अगर अर्जुन के साथ खड़े हैं,
वन-वनवासी हित न समझें, कैसे कहें बड़े हैं ।

''राज्य हितों में भोले जन का हित कुचला जो जाए,
राजसिंहासन सम्राटों का भला ठहर कब पाए ?
और नीति जब यही राज की, सीमा बढ़े, बढ़े धन,
ज्वालाओं के बीच भले ही जलते रहें अकिंचन ।

''नहीं । रोकना ही अब होगा रुधिरपान का उत्सव,
भले खड़े हो पांडव के संग पीछे-पीछे केशव ।
कुरुपति ने क्या सोचा अब तक बीते हुए समय में,
क्या कौरव का अन्तिम निर्णय रक्षा-व्यूह-विषय में ?''

सुन कर यह मन शांत हुआ, तो कहने लगा सुयोधन,
खोल दिया था बँधे हुए मन के सारे ही बंधन,
''इसीलिए तो मित्र तुम्हें है मैंने यहाँ बुलाया,
मिटे, सभी आसन्न विपद ही, प्रलयकाल की माया ।''

रखे कर्ण के हाथ सुयोधन के कंधों पर कसते,
धीरे-धीरे बोल पड़ा वह मन में गहरे धँसते—
यह तो सबको विदित ज्ञात है, राजभोग के मद में,
डूबे हुए युधिष्ठिर कितने इच्छाओं के नद में ।

''सच में जब सत्ता आती है लोभी, क्रूर करों में,
क्षय-विनाश का छा जाता है भय-आतंक नरों में;
तब नारी की शील-प्रतिष्ठा खतरे में हो जाती,
हर क्षण एक भयावह चिंता उसको बहुत डराती ।

''उस मदांध ढोंगी शासक को कौन सहन कर पाये,
जो समाज पर भूत-प्रेत की छाया-सा मंडराए !
मित्र ! युधिष्ठिर-इच्छाओं पर बाँध लगाना होगा,
भोगों के करका घन पर अब वाण चढ़ाना होगा ।

''जो अब तक तरकश के भीतर रहे प्रतीक्षा में ही,
बाहर आने को व्याकुल हैं बस संकेतों से ही
कहा कर्ण ने जब ये बातें, कुछ गंभीर हुआ था,
तभी सुयोधन ने यह कह कर उसका हृदय छुआ था—

''मित्र, तुम्हारे सिवा कौन है मेरा परम हितैषी,
बड़े नाम हैं ऊपर से कुछ, भीतर से विद्वेषी
और पिताश्री उनलोगों के सम्मुख बहुत विवश हैं,
द्रोण-भीष्म से कृपाचार्य तक कितने बड़े निकष हैं ।

''एक शकुनि मामा ही इसमें, जिन पर करूँ भरोसा,
बाकी ने तो समय-समय पर कौरव को ही कोसा;
सुनो कर्ण, कल दीपपर्व है, होगा खेल जुए का,
चौपड़ पर खुलकर आएगा करतव बाज-सुए का ।

''मामा की बस एक चाल में पाशा उलट चलेगा,
कोई हाथ उछालेगा, तो कोई हाथ मलेगा;
इन्द्रप्रस्थ के राजपाट का मैं हूँगा तब स्वामी,
वन-वन भटकेंगे पांडव सब कुंजरपुर के कामी ।

''कर्ण, तुम्हारी प्रबल शक्ति पर मुझको बहुत भरोसा,
भूखा कैसे छोड़ भला दे भोजन रखा परोसा ।
समझो मात युधिष्ठिर की है, फिर वनवास लिखा है,
इन्द्रप्रस्थ पर धूमकेतु एक गिरता मुझे दिखा है ।''

मुस्काया था कर्ण अधर में, फिर गंभीर हुआ था,
चंचल जो मन दिखा अभी था, तत्क्षण धीर हुआ था;
हाथों में ले लिया सुयोधन के हाथों को; बोला,
छिपे हुए जैसे रहस्य को झटके में ही खोला—

''जो विनाश करता है वन के भोले जीव-मनुज का,
धरती क्या, नभ का भी कोई हो सकता है उसका ?
वसुन्धरा पर बिखरा वन-वैभव देवों का वर है,
कुंज धरा का, आत्मज्योति है ऋषियों का यह घर है ।

''उसका ही करता विनाश जो, उसको कौन सराहे ?
ऋषिहंता का क्योंकर कोई साथ निभाना चाहे ?
खांडव वन, वन के नागों का हंता, मेरा हरि है,
घोर अनय है । क्या होता है, पीछे-पीछे हरि है ।

''मित्र, मुझे प्रस्तुत ही समझो, पीछे नहीं हटूँगा,
जो सौगंध अभी लेता हूँ, कभी नहीं विसरूँगा ।
मुझको अगर डिगाना चाहे नर क्या नारायण भी,
संभव नहीं, भले छिड़ जाए महाकाल का रण भी ।

''लेकिन यह अनुनय है मेरा, लुंठित न हो पाए,
पांडव की जननी न फिर से वन का विपद उठाए !
झेल चुकी है बहुत दुखों को एक अकेली नारी,
क्या समझेगा राजभोग से लिपटा जो संसारी ।

''पांडव की माता गंगा-सी मन से मुझे लगी है,
अंगभूमि से बहकर जो हस्तिनपुर में उतरी है ।
सुधि उसकी आते ही मेरा मन चानन बन जाता,
वही मेघवन, ज्येष्ठगौड़, मंद्राचल मुझे बुलाता ।

''मित्र, समाधि-सी वह सुधि होती, कैसे मैं बतलाऊँ,
हस्तिनपुर में रहकर भी चम्पा में आऊँ-जाऊँ''
उतरा था जो मणि आभा का मेघ कर्ण के मुँह पर,
लगा सुयोधन को; चंचल हो भू पर शिशिर-विभाकर ।

देखा कभी नहीं था उसका ऐसा रूप विगत में,
दुर्योधन ने कहा, कहा जो, सीधे भाव विनत में—
कर्ण तुम्हारी इस इच्छा का ध्यान रहेगा मुझको,
किसी दशा में हूँगा, लेकिन ज्ञान रहेगा मुझको ।

''चलो प्रतीक्षा में ही होंगे मामा और दुशासन,
इन्द्रप्रस्थ का मेरा होगा शासन और सिंहासन ।
तुम पर बहुत भरोसा मुझको कुछ विपरीत कहाँ है,
कर्ण, तुम्हारे बिना सोचता मेरी जीत कहाँ है ।

''तुम्हें देखकर अर्जुन तक की नाड़ी भी रुक चलती,
और भीम के बल की आँधी सहमी झुक-झुक चलती;
औरों की साँसों का कुछ भी पता कहाँ चलता है,
दिखा कर्ण का तेज जरा क्या, हिम-सा रिपु गलता है।

भले अंग के महा ताल में कंचन कमल खिला है,
पूर्व जन्म के किसी पुण्य-सा मुझको कर्ण मिला है ।
जिसको पाकर कुरुपति का दुख सुख में बदल गया है,
नभ में गिरता ज्यों त्रिशंकु ही फिर से सँभल गया है ।''

सुनी सुयोधन की बातें, तो झुकी कर्ण की आँखें,
सोनचिरैया की मुँदती-सी खुली हुई दो पाँखें;
दीपों के उठते प्रकाश में अब तो छाया छोटी,
पाशा पलट रहा है जिसमें, उलट रही है गोटी ।

आवर्त्त पर्व
(सर्ग तेरह)

मिला वनवास पांडव को त्रियोदश वर्ष का है,
नहीं कुछ छोर दिखता कौरवों के हर्ष का है;
नगाड़े, ढोल, तुरही से दिशाएं गूँजती हैं,
नदी, पर्वत, गगन, भूमि, हवाएं गूँजती हैं ।

लहरता ध्वज वृहद हरिप्रस्थ पर कुरुवंश का है,
हुआ है अब सुयोधन का । उसी के अंश का है ।
भले ही लग रहा हरिप्रस्थ है श्रीहीन लेकिन,
विभव, वैभव, प्रभा, बल से बहुत ही दीन लेकिन;

सुयोधन के भवन में रास, रस, संगीत-उत्सव,
शिशिर में खिल रहे कचनार, चम्पा, बौर, कैरव;
उधर वसुषेन अपने कक्ष में है बहुत चिन्तित,
नहीं मन में कहीं सुख-चैन के हैं चिन्ह किंचित ।

नहीं बस प्रश्न, शंकाएं कई उठतीं हृदय में,
छुपी है हार कितनी अब सुयोधन की विजय में ?
अभी कुछ सोचता आगे कि गूँजी थी गिरा यह,
''तुम्हारा सोच, जैसे, हो लड़कपन का निरा यह ।

''सुनो वसुषेन, जो भी हो गया, क्या प्रीतिकर है ?
मुझे तो यह नदी में लग रहा उठता भँवर है ।
सँभाले भी सँभलना अब कठिन होगा तरी को,
नहीं तुम रोक पाए जब सुयोधन मत्सरी को ।

''किया आदेश था उसने दुशासन को अहितकर,
सिंहासन के सभी नय-धर्म को पल में ही चित कर;
कभी क्या क्षम्य होगा, जो किया है घोर पातक ?
मनुजता, नीति, नय पर वज्र-सा यह अस्त्र घातक ।

''मुझे तो दुख इसी का, तुम वहाँ पर थे उपस्थित,
निरख कर क्यों नहीं तुम हो गये थे कर्ण मूर्छित !
रहे कैसे वहाँ पर तुम बहुत निष्कंप, अविचल,
उठी थी क्यों नहीं मन में तुम्हारे शांत हलचल ?

''बहुत ही क्रूर पल था वह कि जैसे मन तुम्हारा,
यही तुमसे बताने आ गया हूँ फिर दोबारा ।''
नहीं विचलित हुआ कुछ कर्ण सुन कर यह सभी कुछ,
उसे तो लग रहा है और कहने को अभी कुछ ।

हुआ स्वर मौन, तो वसुषेन ने मन को उतारा,
उमड़ आया हृदय ही बंधनों की तोड़ कारा—
''कहा तुमने अभी जो वह तुम्हीं से सुन चुका हूँ,
नहीं उत्तर दिया । कुछ सोच कर ही तो रुका हूँ ।

''न जाने कब खुले किसकी कथा, चुप ही रहा हूँ,
जहाँ तक सह सका हूँ पीरपर्वत को सहा हूँ;
किसी का जी दुखे न, चाहता था, उत्तरों से,
बहुत बचता रहा कुछ सोच कर ही मैं खरों से ।

''कहा क्या-क्या नहीं, सब बोलना अब तो कठिन है,
जहाँ तक याद करता हूँ समय को, वह मलिन है ।
बिछी है आग भीतर, राख की ऊपर परत है,
उसी दुख में अभी तक यह हृदय डूबा निरत है ।

''कभी जब छेड़ते हो, जाग जाती पीर मन की,
कहीं सीमा दिखाती फिर नहीं फैले गगन की,
मुदा वह सब कहूँगा जो कहा न आज तक है,
सुनोगे शांत होकर, मुझको इसमें घोर शक है ।

''अगर पूछूँ, जुए में कौन दोषी, क्या कहोगे ?
पता है यह, युधिष्ठिर नाम पर तुम चुप रहोगे ?
किसी ने कह दिया तो क्या कुएं में डूब जाएँ,
सभी धन-धाम, भाई और दारा को गवाएँ ?

''जुए में हार जाए स्वयं, उसे अधिकार क्या है ?
भला ऐसे मनुज से लोक का उद्धार क्या है ?
यही तो प्रातिकामी से कहा था द्रोपदी ने,
लगाया प्रश्न था संकट में आकर सतपदी ने ।

''मिला उत्तर कहाँ था भीष्म या फिर द्रोण ही से,
भला होना ही क्या था, भीम-अर्जुन दाँत पीसे ।
कहाँ कुछ बोल पाए थे नकुल, सहदेव, कृप ही,
रहे हरिप्रस्थ के ही क्यों झुकाए शीश नृप ही ?

''कहा अतिकर्ण ने जो कुछ, कहाँ उत्तर मिला था ?
धरम के राज का तब भी कहाँ आसन हिला था ?
कहो फिर कौन न्यायी, कौन धर्मी, कौन जेता ?
नये युगधर्म का, तप-पुण्य का सचमुच प्रणेता ?

''जहाँ तक बात है, कृष्णा को लाने की सभा में,
तुम्हें क्या ज्ञात, क्या जादू भरा है उस प्रभा में !
उसे देखा स्वयंवर में, नहीं कुछ बोल पाया,
हिले न तीर-तरकश, न धनुष ही डोल पाया ।

''लगा क्षण भर यही उस काल में जड़ हो गया हूँ,
थका, हारा, अलस-सा सेज पर मैं सो गया हूँ ।
कहाँ तब बेध पाता लक्ष्य को निष्फल हुआ था,
किसी के रूपपिंजर में तड़पता-सा सुआ था ।

''उसी कृष्णा की छवि को देखने पहुँचा सुयोधन,
नहीं यह बात अब तो है किसी से दूर-गोपन ।
उसे ही देखने में पाँव फिसले थे महल में,
कहाँ थी चेतना जो भेद करता काँच-जल में ।

''सभा में जब दुशासन ने उसे ही खींच लाया,
यहाँ भी रूप की छवि ने वही जादू चलाया,
सुयोधन किस तरह कहता भला यह, 'चीर हर लो',
इकहरे वस्त्र में लिपटी हुई का वसन धर लो ।

''पड़ी थी दृष्टि उसकी उस समय जब द्रोपदी पर,
बँधी ही रह गई हो नाव जैसे कि नदी पर ।
कहाँ कुछ बोल पाया था, सुयोधन ही कहाँ था,
लगा कोई खिलौना काँच का बैठा वहाँ था ।

''तुम्हें भी ज्ञात है, यह मन जहाँ होता प्रबल है,
वहाँ क्या इन्द्रियों का एक भी खिलता कमल है ?
सभी कुछ सामने होते मुदा होता नहीं कुछ,
जिधर जो चाहता मन है, वहीं पर तो सभी कुछ ।

''वहाँ पर जो उपस्थित थे, सभी का हाल वैसा,
कहाँ कुछ बज रहा था कौरवों के गाल जैसा;
दुशासन चीर क्या हरता, शिथिल थीं जब भुजाएं,
कहाँ से, कौन-सी बातें, तुम्हीं बोलो, उठाएं !

''वहाँ पर जो हितैषी पांडवों के थे कहूँ क्या,
अजब ही हाल था उस वक्त में उनकी दशा का,
भयावह स्वप्न की माया से उनका मन बँधा था,
नये ही किस्म का जो स्वप्न रह-रह कर उठाता ।

''उन्हें यह लग रहा था, कृष्ण आये हैं वसन बन,
त्रियोदश हाथ का पट बन गया हो तीन वामन;
निरीहों के डरे मन की अजब होती ही गति है,
असत को सत्य माने शांति के हित, यह तो अति है ।

''यही तो एक पथ था जो उन्हें दुख से उबारे,
सहारा मिल गया भ्रम का बचे हारे बेचारे ।
छुपाने के लिए अब कुछ कहे, इसमें रखा क्या,
कहूँगा, तो कहेंगे; कर्ण को इसका पता क्या !

''जहाँ तब बात है मेरी, उसे कहना जरूरी,
बिना उसको कहे तो सब कहा समझो अधूरी ।
मुझे क्या हो रहा था, तब तुम्हें वह क्या बताएं,
कहाँ से किस तरह से उसे विगत को ले उठाएं ।

''पड़ी जब दृष्टि कृष्णा पर, पुराने घाव उभरे,
उभर आए, स्वयंवर में सभी वे भाव उभरे—
कहा कृष्णा ने क्या था, जब उठाया था धनुष को,
कभी मैं भूल ही पाता नहीं हूँ तनिक उसको ।

''दुशासन ने उसे जब खींच कर लाया यहाँ था,
तुम्हें मैं क्या बताऊँ, मैं स्वयंवर में वहाँ था !
हँसे अधरों में जब थे, द्रोण ही क्या, भीष्म तक भी,
नहीं केवल युधिष्ठिर और अर्जुन; भीम तक भी ।

''कहा था 'सूतवंशज' द्रोपदी ने कर्ण को ही,
समझ सकते हो कितना कठिन होगा काल द्रोही,
मुदा वह भी सहा था, कर्ण सहने के लिए है,
कहा कुछ न किसी से मुँह-अधर अपना सिए है ।

''अगर पूछा है तुमने, तो सुनाऊँगा सभी कुछ,
समय आयेगा वह भी एक दिन जब, पर अभी कुछ,
सुनो, कृष्णा सभा में जब वहाँ लाई गई थी,
नई बदली-सी सुन्दर और भी सुन्दर नई थी ।

''सभा की चेतना थी जड़, विगत में लीन था मैं,
किसी गहरे अतल सागर में बैठा मीन था मैं ।
कहीं पर द्रोण चिंतित थे द्रुपद के द्रोह से ही,
पितामह भी ग्रसित थे पांडवों के मोह से ही ।

''कहाँ था कौन शासक, कौन सेवक, कौन आसन,
हवा में उड़ रहा था सुरभि से निर्मित सिंहासन,
तभी आए वहाँ थे कृष्ण हाथों को बढ़ाए,
वहाँ जो भी उपस्थित थे, नहीं कुछ जान पाए ।

''निकल आई सभा से द्रोपदी सौदामिनी-सी,
दिखी थी एक क्षण में श्याम नभ पर वह कनी-सी।
सभा की चेतना लौटी पहर के बाद ही थी,
महल सूने, नगर सूना, निरापद चौक-वीथी ।

''किसी के हो-न-हो लेकिन मुझे था ज्ञात भावी,
स्वयंवर की कथा को था सुयोधन से कहा भी—
वहाँ जब साथ केशव थे, यहाँ होते न कैसे,
कभी अनुराग छिपता है कहीं भी प्राणभय से ?

''कहोगे तुम 'मिला वन पांडवों को न्याय है क्या?
अगर न हाय है यह, तो कहो फिर हाय है क्या ?
मुझे भी दुख बहुत है पांडवों के वनगमन का,
सभी ढंग से व्यवस्थित राज के ऐसे पतन का ।

''उठाती द्रोपदी होगी बहुत ही कष्ट वन में,
कहीं वह टूटती होगी बहुत अपने यतन में,
कभी घनघोर वर्षा, तेज आँधी, डर निशा का,
विपद का अंत भी है क्या मनुज पर उस कशा का?

''मुदा है दोष किसका, जानना यह भी उचित है,
किसी छल-छद्म से हरिप्रस्थ जो ऐसे विजित है;
प्रजा कैसे सुखी होगी व्यसनरत जो प्रशासक ?
जुए का जो युधिष्ठिर आदि हो, तो घोर पातक ।

''वहाँ धन-धान्य ही क्या, नारी-रक्षा भी असंभव,
व्यसन तो सिद्ध होता है हलाहल, घोर आसव;
विकट यह रोग है जिसको लगा छुटता नहीं है,
जमा तो जम गया गिरि-सा ही, फिर उठता नहीं है।

''युधिष्ठिर ने जुए में खो दिया कृष्णा को; धिक है,
कहूँगा, तो कहोगे 'कर्ण यह कहना अधिक है;
इसी से चुप बना रहना समझते सब, उचित है,
वहाँ पर न्याय का इसमें कहाँ कुछ हित निहित है?

''सुनो, इन बातों में अब क्या रखा है, अर्थ ही क्या ?
जुए की बात लगती है नहीं अब व्यर्थ ही क्या ?
नहीं क्या आठ वर्षों से अधिक बीता समय है,
कठिन जो काल कौरव पर घिरा था, अब सदय है ।

''नहीं पर शांत अब भी हूँ, मेरा मन जानता है,
हृदय की बेकली को ठीक से पहचानता है ।
जलाया है विपिन को, नागकुल को, वह विधर्मी,
कभी भी क्षम्य होगा काल से ऐसा कुकर्मी ?

''नहीं खांडव जला है, देश की काया जली है,
निरीहों को सताए, क्या वही सचमुच बली है ?
भले ही आग वन की हो गई हो शांत-शीतल,
अवधि की बह गई हो बाढ़ लेकर धार खलखल ।

''मुदा मेरे हृदय की आग की लपटें दिगम्बर,
समा जाए कि जिसमें एक क्या लाखों स्वयंवर;
प्रकृति के पुत्र का जो शत्रु है, उस पर दया क्या !
यहाँ भी चुप रहा, तो जन्म लेकर भी लिया क्या !

''जहाँ इतना बड़ा संहार नर का हो गया हो,
वहाँ पर भी क्षमा क्या, नम्रता अरि पर दया हो ?
मुझे यह आग वर्षों से जलाए जा रही है,
तुम्हें मैं क्या बताऊँ पीर कैसी अनकही है ।

''नहीं वह नींद आँखों में, जहाँ मधुमास खिलता,
नक्षत्रों के भरे हों तामरस, आकाश खिलता ।
हवाएं पास आकर आँधियाँ बन कर गरजतीं,
कभी जो मेघ घिरते हैं, तो चट्टाने बरसतीं ।

''इन्हीं के बीच हिमगिरि-सा खड़ा मैं आज तक हूँ,
वही जो सत्य है, उस पर अड़ा मैं आज तक हूँ;
मिला हरिप्रस्थ का जब राज्य आखिर पांडवों को,
बहुत तो दुख नहीं इस बात से था कौरवों को ।

''मिली जो दिग्विजय तो द्वेष किसको कब हुआ था ?
प्रदर्शन यज्ञ में धन का हुआ जब, तब हुआ था;
उठी थी दिक्विजय की चाह कौरव के हृदय में,
वहीं से लग गया था मैं तुरत ही दिक्विजय में ।

''वहाँ तो पाँच भाई थे, अकेला मैं यहाँ था,
विजय की बह गई थी बाढ़ लेकिन मैं कहाँ था ?
हुआ था यज्ञ भी लेकिन किसी का वध न देखा,
मनुज के बीच न खीची गई थी क्षीण रेखा ।

''यही तो यज्ञ होता है, कटे न सिर किसी का,
बँधा हो भाग्य सुख से उस जगह में हर किसी का;
जहाँ कुछ बोलने का हो नहीं अधिकार, बोलो,
वहाँ क्या धर्म होता है ? हृदय अपना टटोलो !

''सुयोधन-कर्म को नीचा दिखाना तो सहज है,
मुझे यह ज्ञात है, आचार्य मन कितना विरज है !
यहाँ तो हस्तिपुर में खेल छद्मो का छुपा है,
अभी तक बच रहा है यह नगर, उसकी कृपा है ।

''नहीं मैं चाहता कुरुवंश का विध्वंश, जानो,
मुझे तुम सृष्टि का रक्षक, तपन का अंश जानो !
तमिस्रा का नहीं कुछ भय, दिवासुत हूँ, विभाकर,
कभी हृद में भी झाँका है अनल को, आकर ।''

तभी फिर बोल गूँजे थे कि ज्यों शीशा गिरा हो,
उधर तम में पुनः वसुषेन का मन ज्यों घिरा हो;
सुना इस्थिर नयन से जो कहे वह जा रहा था,
गलाए काँच-सा ही कर्ण-श्रुतियों को लगा था—

''बहुत तुम बोल बैठे, चुप रहो, मेरी सुनो, अब,
कभी भवितव्य पर सोचा, समय विपरीत हो जब ?
कहा जो व्यास ने है, क्या नहीं तुम जानते हो ?
समय अब काल-सा है, क्या नहीं पहचानते हो ?

''अगर सचमुच नहीं तुम युद्ध के हो पक्ष में तो,
यहाँ रह कर नहीं इस प्रान्त का दुर्भाग्य नेतो !
तुम्हारी बाहुओं की शक्ति का यह खेल ही है,
सुयोधन से तुम्हारा यह अनूठा मेल ही है ।

''नहीं उसको सुहाता शांति का संवाद कोई,
इसीसे सह नहीं सकता है वह प्रतिवाद कोई;
तुम्हें भी चाहिए क्या दिक्विजय का भाग आधा?
सुयोधन से कहो फिर; रोकती है कौन बाधा ?

''नहीं तो बात क्या है, तुम उसी के साथ होते,
जहाँ वह कोड़ता मिट्टी, वहीं पर बीज बोते;
सुनो, जो युद्ध होगा, तो तुम्हीं दोषी बनोगे,
तुम्हें यह ज्ञात भी है युद्ध में किसको हनोगे ?

''तुम्हारे ही अनुज होंगे, तुम्हें यह भी पता है,
कहो क्यों भूलते हो, तात ने जो कुछ कहा है—
तुम्हारी जब पृथा है माँ, तुम्हारा कौन अर्जुन ?
कहो किसके लिए है यह हृदय में क्रोध अनधुन ?''

सुना जो नाम कुन्ती का हुआ विचलित अचानक,
कि जैसे युद्ध-भू में वीर थिर हो शांत श्रावक,
अनल वह द्रोह का उठता हुआ है शांत-शीतल,
शशक-सा छिप रहा है झुरमुटों में क्रुद्ध चीतल ।

धुआँ और आग खांडव के छटे पावस-पवन से,
हवा में उड़ चला है छोड़ काया कर्ण मन से;
अनोखे देश में पहुँचा जहाँ न क्लेष कोई,
भविष्यत-भूत के अवसाद का न लेश कोई ।

शिराओं में भरा संगीत फिर से मेघवन का,
वही विस्तार चम्पा-चीर-चानन के अयन का ।
तभी फिर से उठा वह बोल, क्षण भर जो छुपा था,
अचानक तेज आँधी से लगा पीपल कँपा था—

''कहो, क्या सोचते हो कर्ण, मन का भेद खोलो,
जिसे पहचान ही पाए नहीं, उसको टटोलो !
तुम्हारे देश की चम्पा तुम्हें कबसे बुलाती,
यहाँ हस्तिन नगर में रह के कैसे नींद आती !

''नहीं क्या सुध वृषाली की तुम्हें कुछ भी भिगोती ?
तुम्हारे लौट आने की मधुर आशा संजोती ।
कभी जब देखती होगी इधर को एक टक से,
अचानक टूटती होगी सजीली नींद भक से ।

''तुम्हारा दूसरा सुत जो तभी तो गोद में था,
नहीं चम्पा ही केवल अंग पूरा मोद में था,
''कनक के थाल में वह स्वर्ण-मणि का दान जी भर,
नगर के विप्र, दीनों का खुला सम्मान जी भर ।

''वही अब हो गया है सुत तुम्हारा कुछ बड़ा-सा,
कलाई में सुशोभित स्वर्ण का कंगन-कड़ा-सा;
प्रजा के सुख-दुखों में साथ रहता है तुम्हीं-सा,
बड़े वृषसेन-सा वृषकेतु भी लगता जयी-सा ।

''समय अब आ गया वृषकेतु को है ब्याहने का,
विहित जो धर्म है उसको नहीं अवमानने का;
सुयोधन ने कहा जो, कर दिया, निज कर्म देखो,
तुम्हारा धर्म अब तुमको पुकारे, धर्म देखो !

''तुम्हारी ही प्रतीक्षा में जली-सी है वृषाली,
तुम्हारे ही सहारे वह, नहीं तो बहुत खाली ।''
अचानक खो गया स्वर गूँज पीछे में उठाता,
करुण संगीत की लहरें दिशाओं में बिछाता ।

नहीं कुछ बोल पाया कर्ण था सर को झुकाए,
नयन की पुतलियों को पुतलियों पर है गिराए,
रहा कुछ देर यूं ही, फिर गगन की ओर देखा,
क्षितिज को अपनी बाँहों को उठाए भोर देखा ।

कहा इतना ही उठ कर, ''सब समय पर सिद्ध होगा,
टिका है जो अनय पर धर्म से वह विद्ध होगा;
अभी तो ठीक ही होगा कि चम्पा लौट जाऊँ,
दिगम्बर छन्द की टूटी हुई कड़ियाँ सजाऊँ !

''शिराओं में सभी सोए हुए सपने जगाऊँ,
अभी तो ठीक ही होगा कि चम्पा लौट जाऊँ !
यहाँ बैठे हुए चिनगारियों को क्यों उठाऊँ,
अभी तो ठीक ही होगा कि चंपा लौट जाऊँ !

''तनय वृषकेतु को अब अंगपति जाकर बनाऊँ,
अभी तो ठीक ही होगा कि चंपा लौट जाऊँ !
वृषाली पर अकेले अंग-शासन भार पाऊँ,
अभी तो ठीक ही होगा कि चंपा लौट जाऊँ !

''पिता के और पति के धर्म को मैं क्यों लजाऊँ,
अभी तो ठीक ही होगा कि चंपा लौट जाऊँ!
पिता, पति, भूमिपति के धर्म को ऊँचा उठाऊँ,
यही तो ठीक होगा कि चंपा लौट जाऊँ !''

गगन में सूर्य की किरणें उठी ही जा रही हैं,
तमस की अब कहीं साँसें घुटी ही जा रही हैं;
उड़ाए जा रहा है कर्ण रथ को व्योम-पथ पर,
दिशाओं में ध्वनित है एक ही बस नाद घर्घर ।

सुयोधन सोच न पाया, हुआ यह क्यों अचानक,
अशुभ कुछ सोचना होगा अमंगल, घोर पातक ।
इधर है डूबता अब सूर्य किरणों को समेटे,
उधर पूर्वी क्षितिज पर भोर किरणों को लपेटे ।

प्रत्यूष पर्व
(सर्ग चौदह)

सबको अचरज इसी बात का यह परिवर्तन क्यों है,
गंगा की लहरों पर सप्तम स्वर का नर्त्तन क्यों है ?
कोशी की गति में मल्हार का क्यों संगीत सजग है ?
चानन का भी राग मेघ-सा दिखता अलग-अलग है ।

चीर चली है गाती कजरी, बड़ुआ झूमर गाए,
चैती गाते देख क्यूल को, कोयल खूब लजाए;
स्वर्णसरित कोयल के स्वर में पंचम राग निकाले,
अजय, मोरखी इस अवसर पर कैसे हर्ष सँभाले !

आज मान का मान शिखर पर हर्षित कलकल-छलछल,
महानाद-सी रीगा की भी लहरों में है खलखल;
शक्तिमती की खुशियों की सीमा है कहाँ दिखाती,
आज ब्राह्मणी, बंसलोई को कितना है हर्षाती ।

अंग देश की सीमा में नदियों का कैसा उत्सव,
उधर मेघ-मालूर वनों में चिड़ियों के भी कलरव;
चम्पावन में मौलसिरी का मेला लगा हुआ है,
बिना किसी रमणी को देखे कुरवक खिला हुआ है ।

कोविदार, कचनार, प्रियंगु का, केसर का है मेला,
बैठा है अवसाद कहीं पर बिल्कुल अलग अकेला;
कहीं शिरीष हँसी से पागल, कहीं केतकी गमगम,
चम्पा की माटी झूमर-सी नाच रही है छमछम ।

अंगदेश के सागर-तट पर ज्वारों का है उत्सव,
भाटाओं पर लहरें नाचे; ज्यों शिव का हो तांडव,
ऊँचे-ऊँचे पर्वत के आनन पर हँसी थिरकती,
किसी दिशा से चले हवा, बहने के पूर्व सँवरती ।

एक समय में सब ऋतुओं का उत्सव एक जगह पर,
अपनी-अपनी लिए विभूति को सतयुग, त्रेता, द्वापर;
अंगराज के अंग पहुँचते सब कुछ नया-नया है,
कौन रंगोली, धूप, दीप से चम्पा सजा गया है ?

रत्नों के, आभूषण के, वसनों के रंग निराले,
चलता है तो इन्द्रधनुष को नभ में नगर उछाले;
हर मंदिर, हर मठ के ऊपर उड़ती हुई पताका,
दिन लगता है चम्पा का; ज्यों, बिछी हुई हो राका ।

देवनदी के तट पर खिलता कंचन-दान-कमल है,
जहाँ शांति है डेरा डाले, कहीं नहीं हलचल है,
जैसे पूरब, पश्चिम, उत्तर पर मोदों के पहरे,
वैसा ही दक्षिण भी प्रमुदित पुलक-कंप से सिहरे ।

क्या नगरों के नागर जन ही, क्या वन के वनवासी,
क्या इन सबसे दूर बसे वे पर्वत के संन्यासी,
सबके भाग्य शिखर पर शोभित, कोई दीन नहीं है,
कर्णराज्य में कौन मनुज, जो सुख में लीन नहीं है ?

घर-घर में है लोक-वेद की मिली हुई चर्चाएं,
तन्मय होकर सुनतीं मठ-मंदिर में लगी शिलाएं;
नगर-नगर और गाँव-गली में लक्ष्मी घूमा करती,
हंस छोड़ कर विद्यादेवी सबके यहाँ विचरती ।

वर्णहीन हो वर्ण चतुष्टय नये धर्म का स्रष्टा,
आदिकाल को ढाल रहे नर अंग देश के त्वष्टा;
कीर्तिकथा बलि, अंग और दधिवाहन-सा दिविरथ की,
कहीं धर्मरथ और चित्ररथ की चर्चा इति-अथ की ।

सिर्फ सत्यरथ, रोमपाद की गाथा नहीं घनी है,
इसमें चतुरंग, पृथुलाक्ष की भीगी सुरभि सनी है;
चम्पा की मृदुगंध लिए चलती है चम्प-कथाएं,
जैसे कि हर्यंक-गान ले बहती विविध हवाएं ।

राजकाज से मिलते ही अवकाश, कर्ण चलता है,
दूर दुर्ग से गिरि-कानन में स्वर्ग जहाँ मिलता है;
चलते-चलते सागर-तट तक घूम चला आता है,
कर्णराज का दुर्ग जहाँ ज्वारों से टकराता है ।

वही पूर्व-सा चम्पा की गंगा में जरा उतर कर,
बंद दृगों से भोर-साँझ को देखा करता दिनकर;
जहाँ जेठ-वैशाख चैत-से लगते सुखद-सुहावन,
पूस-माघ फिर लौट-लौट कर बन जाते हैं अगहन ।

उठते हुए सघन वन लगते बादल झुके हुए हैं,
मल्लयुद्ध को वसुधा भर के योद्धा रुके हुए हैं,
या फिर गिरि पर झुंड गजों का इस्थिर सूँड़ उठाए,
नील-मणि के लघु-लघु गिरि ही चंचल हों, दिखलाए ।

आठ वर्ष बीते कब कैसे, प्रिया समझ न पाई,
पीछे-पीछे दौड़ रही थी नटी नियति-परछाई,
और वृषाली को सुध थी क्या पाकर कर्ण-प्रणय को,
मुट्ठी में ले घूम रही थी तीनों लोक-विजय को ।

बीते पक्ष, माह पर वत्सर; समय निकट वह आया,
राज्यादेश नये भूपति का दिक् ने पढ़ा, सुनाया—
अंगनृप वृसषेन बनेंगे, बरसे कुसुम गगन से,
देश-देश ने पाया है संदेश पवन और घन से ।

गूँज उठे आधारित, दुन्दुभी, गोमुख, आदि, पटह भी,
चंचल है सरिताएं ही क्या ? जमे हुए सब दह भी ।
फिर तो काल भेद से गूँजे सुर-रागों के सप्तम,
ऊँचे-ऊँचे कहीं चढ़े, तो नीचे-नीचे; मध्यम ।

भू सिंचित कर अभी गया है बादल दूर गगन से,
कस्तूरी ले आये थे मृग चल कर चम्पावन से;
लुटा रहे हैं कुसुम सुरभि को तीन पहर पहले से,
अंगदेश ऐसा लगता है, पारिजात हो जैसे ।

मंत्रोच्चारण विहगों का, वन में वन्दन है गज का,
शंख फूँकतीं गायें रह-रह, पहरा है मलयज का,
बाँस-वनों की वंशी की धुन लोक-लोक से सुंदर,
बजते हैं चम्पा के मन में घुँघरू, पायल, झूमर ।

रंगशाला में रखे रह गये आजा-बाजा-गाजा,
अंगदेश का बनने वाला जो वृसषेन है राजा;
जुटे भूप गण प्रांत-प्रांत से रथ रत्नों से भरकर,
लौटे आखिर उन रत्नों को जहाँ-तहाँ ही धरकर ।

लुटा रहे हैं दीन-हीन भी स्वर्ण-रजत को खुल कर,
अजब तरह का भाव जगा है, अजब तरह का वामर,
सबके अधरों पर यश की ही गाथा कर्ण बली की,
आज भुवन के सम्मुख सुरपुर की भी महिमा फीकी ।

लौट रहे स्वदेश महीधर, जो थे जहाँ से आये,
गाते हुए विरुद रविसुत के, मन से भरे अघाये ।
इससे भी तो अधिक अघाया आज कर्ण का मन है,
मन गरुड़-सा बना हुआ है, नीचे नील गगन है ।

हृदय बहुत हल्का लगता है, दुख का भार घटा है,
घुमड़ रहा था करका घन जो, जाकर आज छटा है ।
नये पंख थे नये समय के; दिखता; तुरत अलोपित,
इसका भी कुछ बोध कहाँ था, कर्ण रहा यूँ मोहित ।

ऋतुएँ आईं, चली गईं, दस बारहमासा बीते,
वह सब भरे-भरे-से लगते, जो कुछ रीते-रीते,
प्रिया वृषाली के संग में सब बातें होतीं मन की,
कृष्णा के स्वयंवर से लेकर जलते खांडववन की ।

मिला पांडवों को कैसे वनवास; कथा क्या पीछे,
कैसे कौरव भाग्य उठा था, कैसे पांडव नीचे,
लेकिन अब भी कोई है जो लग जाता है पीछे,
यही कर्ण को लगता है वह पकड़ बाँह को खींचे।

फिर तो रविसुत दूर वृषाली तक से भी हो जाता,
हाँक लगा कर चंपा का वन, बाँहे खोल बुलाता,
दौड़ाती ज्यों कस्तूरी है वन में चकित मृगा को,
भूल कहीं भटका करता मन चंपा की वसुधा को ।

ऐसे में तो राजभवन के राजकाज सब बेरथ,
मर जाता है बिना क्रोध के मधुऋतु में ही मन्मथ,
जग उठता है मन का वह वैरागी भाव कहीं से,
विगत वेग की अंगड़ाई ले उठता जाग वहीं से ।

ऐसे में सचमुच ही होता कितना कर्ण अकेला,
कंचन कर में पड़ा हुआ हो; जैसे, एक अधेला ।
लगता है कुंजरपुर में ही उसका आधा तन है ,
बहने लगता उसी ओर तब मन का मृदुल पवन है।

कितनी यादें ले आते हैं, वन, उपवन का निर्जन,
योगी-सा बैठा ही रहता प्राणों का कर आसन ।
आती रहती सुधियाँ सारी पंखों को छितराए,
कर्ण पकड़ना चाहे जिनको, पकड़ कहाँ पर पाए ।

कुछ टूटी-सी बनी लकीरें चित्र अधूरा-सा हो,
होता जाता सिन्धु अगम है, जितना उसको थाहो ।
रेखाओं का रंग जामुनी जैसे-जैसे होता,
चिन्ताओं-शंकाओं के सागर में उसे डुबोता ।

और वही फिर सुधियों की पुरबा-पछिया झोंके,
सौ छवियों की धूप-छाँह की आँधी ही अनचोके,
भद्रासन की साज-सजावट गीतों की बरसातें
दिन की चमक भले मोती-सी, मणि जैसी ही रातें ।

फगुआ, सतुआनी के संग में दुधिया घोर दिवाली
सौरभ बाँट रहा चम्पा में चम्पा भर-भर प्याली;
सजे हुए रथ, अश्वारोही, ऐरावत भी ऐसे,
पथ के रजकण, महमह-गमगम, गुग्गुल, धूप, मलय से

खड़ा कर्ण है भद्रासन के पास, अभी कुछ होता,
किसने कहा कि कृष्णा को क्यों भेजा गया न न्यौता !
और वही फिर सुरभि हँसी की छूकर निकल गई थी ।
कुछ कहने में सचमुच क्या वाणी ही फिसल गई थी ?

किसने कहा था ? कहने में क्या कोई अर्थ छिपा था?
तिल भर की जो बात लगी थी, वही अभी क्यों गाथा ?
पकड़ बुद्धि की डोर कहाँ-से-कहाँ कर्ण है जाता,
तम अछोर है, जिसमें झिलमिल एक लोक दिखलाता ।

अभी-अभी देखा है उसमें वंकिम रूप-छटा को,
शशि को अपने बीच छिपाए घिरती श्याम घटा को;
तत्क्षण सब कुछ लाँघ कर्ण जा पहुँचा हस्तिनगर में,
कितना शोर भरा था भीषण पल्लव के मर्मर में !

सुधि आई, जब कृष्णा ने बातों में कभी कहा था,
दुर्योधन की दारा से । वह सोच नहीं कुछ पाता ।
यही कहा था, 'स्वयंवर से पहले जो चित्र मिले थे,
उनमें चित्र कर्ण का देखा, तो फिर प्राण खिले थे ।

बहन, तुरत मैंने 'हाँ' कह दी, कुछ भी बिना विचारे,
मैं धँसती ही गई धार में, छूटे सभी किनारे ।'
''तो फिर ऐसी बात हुई क्या, ज्यों स्वयंवर में आई,
'सूतपुत्र स्वीकार नहीं है', देख मुझे चिल्लाई ।

''पहले भी तो यही भाव मन में अक्सर है आया,
सोचा जो कुछ, वही सत्य था, भूल नहीं हूँ पाया,
रह-रह कर यह प्रश्न हृदय में ऐसे क्यों उठ जाता,
पांडव से पहले केशव का चित्र वहाँ दिखलाता ।

''लेकिन जो कुछ हुआ ठीक था, उसको क्यों छल मानूँ,
जो अनीति है, उस पर क्यों अब अस्त्र-वाण को तानूँ !
जीत अगर मेरी ही होती, तो कृष्णा क्या होती ?
मुझसे दूर सुयोधन-गृह के स्वप्नभार को ढोती ।

''मेरा लक्ष्य सुयोधन-हित था, कृष्णा के संग छल था,
हस्तिराज के लिए समर्पित मेरा कार्य विफल था ।
अब भी हूँ मैं ऋणी सुयोधन का ही, मित्र अकेला,
मुझे तोड़ सकता यह कब है, राज्य-मुकुट का खेला ।

''कितना था वह घोर अयश-क्षण गिरि-सा मुझ परगिरता,
किसी वृन्द के खिले पुष्प पर करका घन-सा घिरता,
आकर वहाँ सुयोधन ही था, जिसने कहा ये खुल कर,
मेरे मन पर जमा भार सब बहा तुरत ही घुल कर ।

''मिथ्या क्या है जन्मकथा सब, किसकी कहाँ छुपी है,
द्रोण, भीष्म या कृपाचार्य ने चुप्पी क्यों साधी है ?
ब्राह्मण माँ और क्षत्रिय पिता की संतति सूत कहाए,
तो जिसकी माँ नहीं द्विजा है, वह क्या भूत कहाए ?

''रोक दिया था कृपाचार्य ने आगे कुछ कहने से,
जाने कितने बह जाते, उन बातों के बहने से,
वही घाव फिर उभर गया था बातों से कृष्णा की,
भरे स्वयंवर में मेरा क्या और रहा था बाकी ?

''वह अपमान भुला मैं सकता, संभव नहीं हुआ था,
देखा नहीं किसी ने लेकिन मेरा रक्त चुआ था;
समय, काल सब भर देता है ऊपर से घावों को,
लेकिन टीस रहे जो भीतर, कैसे उन भावों को ?

''चट्टानों के बीच धँसा जो बीज रहा करता है,
वही फाड़ देता है गिरि को, भू पर जा धरता है ।
जाने मन की कौन गली में टीस छुपी थी बैठी,
मुझसे भी अनजान रही मेरे मन में ही ऐंठी ।

''फूट पड़ी थी दावानल-सी भरी सभा में उस दिन,
फण काढ़े फुँफकार उठी थी बिल में विषधर नागिन,
लौट गया था द्रुपदराज के स्वयंवर से अनचोके,
भरी सभा से दूर कहीं मैं सूझ-बूझ को खो के ।

''अब आती है सुधि मुझको, जब कृष्णा ने था देखा,
दुःशासन से भरी सभा में दुख की काली रेखा,
स्यात इसी से, हर लूँगा मैं उसकी पीड़ा सारी,
अब कहता मन, 'कहाँ गयी थी उस दिन बुद्धि तुम्हारी ?'

''कितनी पीड़ा, कितनी लज्जा एक निमिष में छलकी,
झंकृत हो जाता तन-मन है, सुधि आते उस पल की;
लगता है, यह शक्ति व्यर्थ है, और कवच-कुंडल भी,
दे न सका उस भरी सभा में कृष्णा को संबल भी ।

''चेत हुआ था, तब कृष्णा को कृष्ण बचा ले निकले,
इसका कुछ अवकाश नहीं था, बुद्धि जरा भी सँभले ।
समझेगा यह कौन भला किस मन से गुजर रहा था,
लग कर उल्कापातों से पर्वत ही बिखर रहा था ।

''सब देंगे बस दोष मुझे ही नय को बिना विचारे,
टूटी होगी नाव भँवर में, नाविक खड़ा किनारे ।
कुछ भी हो, इसका तो दुख है, चूक हुई है मुझसे,
साथ धर्म का दे न सका, धरती शोभित है जिससे ।

''मैं अपने ही मान-हानि में उलझा रहा समय पर,
रुककर पल भर सोच न पाया लज्जा, शील, विनय पर;
यह भी भार हृदय पर अपने लेकर अब जीना है,
माहुर है, प्राणों का घातक, जिसको ही पीना है ।

''क्यों लगता है, वहाँ हुआ जो उसका कारण मैं था,
दुर्योधन के कामदेव का उद्धत चारण मैं था;
जान गई होगी जब कृष्णा छिपे हुए उस छल को,
रोक लिया होगा मन में ही अपने प्रेम अमल को ।

''नहीं चाहते सूतवंश की बात निकाली होगी,
मुश्किल से उसने अपनी ही देह सँभाली होगी;
समझेगा ही कौन भला यह पीड़ा मेरे मन की,
लगता लिए चला जाता हूँ सारी व्यथा भुवन की ।

''कैसे-कैसे लांक्षण मुझ पर सभी लगाते आए,
जिससे कि यह कर्ण धरा पर पतित सदा कहलाए ।
मैंने कहा कहाँ कृष्णा को, वह है रूपाजीवा,
जो कहता तो इसी तरह क्या सीधी होती ग्रीवा !

''वैसे भी यह ज्ञात नहीं है कुंजरपुरवासी को,
अंगदेश में छूट नहीं है शासित या शासी को;
रूपाजीवा को छोटी आँखों से कोई हेरे,
तब ऐसे में कृष्णा के हित बोल उठेंगे मेरे ?

''अंगदेश में गणिका भी पूजित है देवी-सी ही,
वारस्त्री के बिना अधूरी कथा ऋंगऋषि की ही ।
लेकिन क्या इससे भी लेना, इससे अलग कहूँ मैं,
कृष्णा का दुख मेरे जैसा जिसमें सतत बहूँ मैं ।

''हाहाकार छुपा जो मन में हर्षित जग क्या जाने,
द्वैत दुखों का रंग एक है, कोई क्या पहचाने !
ऐसे में अपशब्द कहूँगा कृष्णा को ही, अति है,
भेदबुद्धि से भरे हुये के मन की वंकिम गति है ।''

अभी और कुछ आगे उठते प्रश्न कर्ण के मन में,
वहाँ वृषाली आ पहुँची सखियों के संग उपवन में,
कहा, ''यहाँ क्यों बैठे हो आसन चुपचाप लगाए ?
राजसभा बैठी है, मंत्री समझ नहीं कुछ पाए ।

''राजकुँवर क्या समझे सब कुछ, कुछ तो समय लगेगा,
अभी तात के संरक्षण में उसका राज चलेगा,
राजकाज से इतनी जल्दी कैसे विमुख बनोगे,
ऐसा अगर हुआ तो नय का ही अपमान करोगे ।

''चलो बड़ी दी बाट जोहती बैठी राजमहल में,
और यहाँ तुम योगी जैसा बैठे हो जंगल में !
जब से लौटे देश यहाँ तुम कब-कब रहे महल में,
बाहर-बाहर रहे घूमते प्रश्नों के ही हल में ।

''सारी प्रजा तुम्हारी अपनी, छोड़ वृषाली को ही,
कुंजरपुर से लौटे हो तो लगते हो निर्मोही ।
लगता छोड़ वहीं आए हो तुम तो अपने मन को,
सच कहना, किस चिंता में पकड़े रहते हो वन को ?

''कहीं द्रौपदी की छाया तो घेरे नहीं खड़ी है ?
सचमुच में इस रूपजाल की माया बहुत बड़ी है ।
ले जाती है दूर दृश्य से जहाँ शून्य ही केवल,
बाँधे रहता है तन-मन को हिम-किरणों का शतदल ।

''अंगराज को नहीं लुभाती अब क्या कहो, वृषाली ?
दूर-दूर रहने की तुमने कैसी राह निकाली !''
सुना कर्ण ने तो वह झेंपा, लेकिन सँभल गया था,
जो कुछ उठा तुरत था मन में वह तो नया-नया था ।

सब कुछ ठीक-ठाक था, उसने जब अपने को तौला,
संचारी को हटा, भाव रति को आगे कर बोला—
''क्या कहती हो प्रिये, वृषाली, तुम्हें चाहता जी से,
मीन विलग कैसे हो सकता, सागर, झील, नदी से !

''पुन्नु चीर तो, चानन तुम हो, तृषित कंठ मैं राही,
तुम दोनों के लिए स्वयं को ऐसा मैं पाया ही ।
तुम दोनों से अलग भले था, सुधि तो साथ रही थी,
उड़ते हुए मेघ की खातिर चारो ओर मही थी ।

''अब तो जी करता है जैसे छायावन में बैठे,
हारिल-सा मैं पड़ा रहूँ बस अपने पंख समेटे;
मेरे बिना वृषाली ने जो शासन-राज सँभाला,
प्रजाजनों को समझा संतति अपनों-सा है पाला ।

''उसके लिए अलग से ऋणी हूँ, हरदम ही, कल्याणी,
कभी सोचता जो एकांत में, परा ठहरती वाणी ।
प्रेम तुम्हारा धरती पर संदेश स्वर्ग का लगता,
सुधि आते ही सच समाधि का योग तुरत है जगता ।

''इसे बुद्धि से कैसे कोई समझे कहो, वृषाली,
जहाँ देह को ज्ञान नहीं है, वाणी निष्फल-खाली ।
बैठो यहीं, वृषाली कुछ क्षण, मिले शांति इस मन को,
आज तुम्हारी आँखों में फिर देखूँ नील गगन को ।

''पलकों के छायावन में स्वप्नों का रंग सजाऊँ,
फूलों के सौरभ में खोजूँ, खोज-खोज थक जाऊँ;
आओ फिर से पंख हवा के बाँध चलें तन-मन से,
चल कर बातें कर आएँ फिर ऊँचे नील गगन से !''

मुस्काई, संकेत किया सखियों की ओर नयन से
कुछ उलाहने के ही स्वर में, पुलक सँभाले मन से—
''और वहाँ खोजेगी दीदी; व्याकुल पहले से ही,
चलो यहाँ से राजभवन में, आओ चलें, स्नेही !

''संध्या की अलसाई आँखें थकी-थकी-सीं बोझिल,
नहीं देखते दृश्यहीन अब किरणें भी हैं झिलमिल !
संध्या-पूजन हुआ, नहीं पर लौटे दुर्ग-महल में,
क्या होगा ऐसे बँधनें से बोलो रूप-कमल में ।''

हँसी वृषाली इतना कह कर, उठी कर्ण के संग में,
आँखें दिखीं कर्ण की दोनों रंगी गुलाबी रंग में ।
अब तक जो थे मौन विहग सहसा ही लगे चहकने,
फूलों के सौरभ के संग में शीतल हवा बहकने ।

ऊँचे-ऊँचे वृक्षों के शिखरों से शशि ने देखा,
चलते हुए बटोही दो की एक विरल-सी रेखा ।
नीरवता में लगे गूँजने लहरों के सुर लय में,
स्वप्नों की साँसें बस चलतीं मन के शांत निलय में ।

गिरिडीह पर्व
(सर्ग पंद्रह)

‘‘ये कहाँ ले आए रथ को हाँकते अब नाथ ?
किस तरह गिरि शोभते, पकड़े हुए ये हाथ !
वन सघन देखा था मैंने पर न गिरि का प्रांत,
झूमती नदियाँ हैं, लेकिन फिर भी कितने शांत !

‘‘बादलों से बात करने को विकल ये वृक्ष,
क्या यही पर्वत वही है, जिसको कहते ऋक्ष ?
गिरि-शिखर से बात करते ऊँचे उठते पेड़
देख कर यह मेघशावक आके जाते छेड़ ।

‘‘लग रहा है बादलों से ये करेंगे बात,
यह सघन छाया कि जैसे हो रही हो रात ।
पर्वतों पर लोटतीं नदियों का मधुमय राग
डीह गिरि का देख पाई, धन्य मेरा भाग !

‘‘ये बही जातीं जो नदियाँ, क्या हैं इनके नाम ?
पर्वतों, वन का, सलिल का धन्य है यह धाम !
और इनमें भी नदी यह, क्या अनोखी धार,
बाँध कर जो बह रही सौन्दर्य का संसार ।

जो सुना यह कर्ण ने तो जग गया था योग
भाव जागे इस तरह, ज्यों, सुरभुवन के लोग ।
हो मुदित कहने लगा राधेय, मन को खोल,
घोलने वह लग गया था स्वाति कण-सा बोल—

''ठीक ही तुमने कहा, यह धन्य सचमुच धाम,
काटती नदियाँ चका हैं, हो चकित अविराम ।
और पंचानन की सबसे ही अलग यह धार
ढो रही हैं नील मणि-सी; ये शिलाएं, हार ।

''बढ़ रही किस वेग से हैं मेघवन की ओर,
घेरती गिरि-डीह को है, बासुकी की डोर;
युग हुए, आखेट में जब मैं भटकता भ्रांत,
आ गया था मैं अकेले ही विजन यह प्रांत ।

''क्या कहूँ कैसा लगा था, क्या हुआ था बोध,
टूट कर जैसे बहा हो कुछ कहीं अवरोध ।
इस नदी की धार से कहता मुझे था कौन,
याद आई जन्म की मेरी कथा, जो मौन ।

''यूं लगा मैं बह रहा हूँ, पेटिका में शांत,
और पंचानन सँभाले जा रही उद्‌भ्रांत;
पर्वतों और जंगलों के बीच का ले पंथ,
बह रही चंपा-दिशा में हाँकती-जल-रंथ ।

''क्यों वृषाली बोलता है अब मेरा विश्वास,
जन्म की मेरी कथा भी आस ही बस पास ।
माँ यहाँ तक आ गयी होगी, यही है बात,
हाँ, बहुत होगी भयावह और रोती रात ।

''वह शिला-सी सह गई होगी गहनतम पीर,
टूट जाए देख जिसको धीरता का धीर;
यह तो माँ का पुण्यफल है, जो खड़ा हूँ आज,
नीड़ में अंडज पड़ा था, आज सर पर ताज ।

''और पंचानन यही होगी कवच-सी साथ,
कुछ नहीं इससे अलग लगती है मुझको बात;
सामने में दुर्ग यह जो देखती हो पास,
काल-विधि के घाव का करता हुआ उपहास ।

''स्यात कल यह बोल पाए आज जो है मौन,
किस तरह सच बोलता है, जानता है कौन !
कुछ भी हो लेकिन मेरा तो बस यही विश्वास,
माँ के आँसू, चिन्ह पैरों के यही हैं पास ।

''जो नहीं, तो क्यों सिहरती इस तरह यूँ देह,
भीगता हूँ मैं, उमड़ता, माँ का शीतल स्नेह ?
दे कोई आवाज नारी, माँ की लगती हाँक,
उस समय तो बस यही समझो हृदय दो फाँक ।

''मैं बना व्याकुल विचरता, इस तरह उद्‌भ्रांत,
क्यों सही कहने से डरता है विकल यह प्रांत;
पर, तभी ऐसा भी लगता है, सिहरता मौन,
दूर उस पूरब के कोने से ये कहता कौन ?

'यह बहुत अभिशप्त थल है, सो रहा है शोक,
एक निर्वासित त्रिया के मोह का मधु ओक ।'
''क्यों छुपायी जा रही है, मुझसे मेरी बात ?
पूछता हूँ, पर नहीं कुछ बोलते हैं, तात ।

''क्यों कभी लगता, कहीं अभिशप्त ही यह प्रांत,
कुछ घड़ी के बाद क्यों मन थकित होता श्रांत ?
आज तुम हो साथ तो बीती सुनो वह बात,
भूल मैं पाया नहीं हूँ नियति का वह घात ।

''शब्दभेदी वाण मेरा इस नदी के पास,
कर गया दुर्भाग्य मेरा क्रूरतम उपहास ।
वह तो मुनि की गाय ही थी, धँस गया था वाण,
गाय के निकले थे पीछे, पहिले मुनि के प्राण ।

''घोर दुख में, क्रोध में मुझको दिया था शाप,
'जब विवश होगे, न देगा साथ भी यह चाप''
पर नहीं यह सोचना कुछ भी हूँ मैं भयभीत
कहने भर को है नचाता सर्प को संगीत ।

''इस तरह के शाप से डरता कहाँ, जो वीर ?
तोड़ सकता वह नहीं दुर्भाग्य की जंजीर।
कर्म तो प्रारब्ध मणिधर के फणों पर डाल,
इस विजय पर तान शर को है नँचाता काल ।''

मुस्कराई थी वृषाली; स्वर्णचंपा-हास,
छू गया था कर्ण को सहसा मृदुल मधुमास।
कुछ हिले अधरों से इतना ही कहा, हो पास,
छू गया था कर्ण को सहसा मृदुल मधुमास—

''मैं नहीं भयभीत होती, हो भले ही शाप,
अंगपति की मैं त्रिया हूँ, क्या डराए ताप !
पर मुझे भी बाँधता क्यों यह चका का रूप,
देख जिसको बहुत चंचल अंग के हैं भूप ।''

देह सिहरी कर्ण की लेकिन हुआ न ज्ञात,
भाव रोमिल जग गये थे, जो बहुत अवदात ।
नव शरत-सा पारदर्शी मन-हृदय को खोल,
घोलने वह लग गया था स्वातिकण-सा बोल—

''हाँ, कहा तुमने उचित ही, थिर न रहता धीर,
बाँध लेती जब मुझे सुधि तोड़ कर प्राचीर ।
आँधियों के बीच पड़कर एक पल्लव दीन,
दूर नभ से हो गया हो शून्य पर आसीन ।

''पर तुम्हारे साथ हूँ, तो चित्त भी है शांत,
अब न होगा, हो चुका जितना हृदय यह भ्रांत ।
ज्वार को चुन-चुन समेटे किस तरह गंभीर,
क्षुब्ध रत्नाकर हुआ है शांत धारे धीर ।

''पर वृषाली, आज भी न क्यों रहा यह ज्ञात,
साँझ की यह लालिमा है, यह नहीं है प्रात;
दे रहा देखो क्षितिज है, काल का संकेत,
और कुछ ही बाद गिरि ये; ज्यों, दिखेंगे प्रेत ।

''दुर्ग के भी जागने का हो गया है काल,
किस तरह से आ रही छाया सँभाले चाल;
क्यों नहीं अब लौट जाएं हम नगर की ओर,
खींचता है दिवस अब तो रश्मियों की डोर ।

''क्या नहीं लगता कहो, अब लौटने का काल,
देखती भी हो, प्रतीक्षा में खड़े दिक्पाल ।
पर न जाने क्यों मुझे यह रोकता गिरि-देश,
और पंचानन के स्वर्णिम ये बिखरते केश ।

''मन तो होता बह चलूँ, मुझको बहाए धार,
स्यात मुझसे आ मिले भूला हुआ संसार ।
तुम कहोगी, भ्रांत मन का यह बँधा अवसाद,
कर रहा एकान्त पाकर हिंस्र पशु-सा नाद ।

''मैं नहीं कहता कि मिथ्या है तुम्हारी बात,
पर बिताई जब कभी मैंने यहाँ पर रात;
सिसकियाँ मैंने सुनी हैं, विजन जब भी प्रांत,
चाँदनी की देह से लिपटा हुआ हो ध्वांत ।

''इस नदी की धार दिखती शांत, चंचल झील,
और गिरि ये; ज्यों ठुकी-सी हो हृदय पर कील;
रात के पहले, वनों में विहग के कुछ बोल,
उस नदी के पार तक जाते हैं करुणा घोल ।

''ओस की बूँदों के तिप-तिप भेदते आकाश,
चाहता बचना, मुदा यह बाँध लेता पाश;
पत्तियों की आहटें, किसके डरे-से पाँव ?
फूल का खिलना लगे, ज्यों जागता हो गाँव ।

''और कलियों का चटकना; ज्यों, हो पद की चाप,
पुण्य के पीछे लगा देखा है मैंने शाप ।
स्यात तुमको भी नहीं होगा कभी विश्वास,
क्यों यहाँ ऐसा लगे, जीवन-मरण हैं पास ।''

कुछ समझ पाई वृषाली, कुछ रहा अज्ञात,
हो गया मन एक क्षण में अधखुला-सा प्रात ।
बोलना कुछ चाहती थी, बोल निकले और,
वे भी जैसे लू से झुलसे हो सलेटी बौर—

''क्यों नहीं विश्वास हो, जब है तुम्हें ही, नाथ,
पर इसे पकड़े रहे क्यों, आज जब मैं साथ ।
कुछ अगर बातें करें, तो मन लगेगा और,
उधर देखो, कौन-सा गिरि सर उठाए गौर ।

''कौन नभ के पार, यह किसको निमंत्रण मौन ?
चोटियाँ बाँहें उठाए हैं, वहाँ है कौन ?
और फिर यह भी बताओ, यह विजन क्यों, लोक?
भाग्य के शर से बँधा नीलांग शीतल शोक ।''

यह विजन क्यों लोक ? सुनकर जग गई फिर पीर,
बज्र मन को चीरकर बाहर गिरा हो धीर;
सामने जलते विपिन से ज्यों उठा हो धूम,
झूमती लपटें उठीं पछिया हवा को चूम ।

कर्ण ने देखा खड़ा अर्जुन लिए गांडीव,
दूर तक जलता विपिन में मर रहे हैं जीव;
नागवंशी नारी-नर का हो रहा है शोर
कर्ण ने पकड़ा विजय को देख उसकी डोर ।

बड़बड़ाया, ''जीवहंता, नारीहंता, नीच,
जल गया है नागकुल जलते विपिन के बीच ।
साधता हूँ मैं विजय पर लो सँभालो वाण,
तीन लोकों में मिलेगा क्या तुम्हें अब त्राण !

खो गया है कर्ण सहसा छोड़ कर यह लोक,
क्या हुआ होता, वृषाली जो न देती टोक—
''क्या हुआ, क्यों इस तरह विचलित हुए हैं नाथ ?
क्यों विजय पर इस तरह से रेंगते हैं हाथ ?

''किसको रहे धिक्कार हो, कुछ भी नहीं तो पास,
क्या कोई संकट निकट है ? मिल गया आभास ?
दूर तक तो सामने कुछ भी नहीं, हो त्रास,
क्या उचित है, इस तरह से साथ का परिहास ?''

सुन वृषाली को हुआ चेतन, सजग, फिर शांत,
एक स्वर गूँजा यही फिर ''क्या हुआ था कांत ?''
हो गया इस्थिर अचानक, ढेव लेता कूल,
शरतमन से कर्ण बोला, झाड़ कर सब धूल—

''कुछ नहीं, बस याद आई थी पुरानी बात,
इसलिए लेकर विजय को तन गये थे हाथ ।
क्या बताऊँ मैं तुम्हें यह नागकुल का लोक,
दिख रहा है जो अभी अब नीलगिरि का शोक ।

''गूँजते थे गिरि, विपिन, नद, था वो ऐसा काल,
नागकुल के दर्प के बजते पटह और झाल;
नृत्य कैसा झूमता, नभ पर टिकाए पाँव,
पी कहाँ, बस पी कहाँ ही; था कहाँ यह काँव ।

''फिर अचानक एक दिन टूटा प्रलय का वेग,
ज्वार सागर के यहाँ पहुँचे बढ़ाए डेग;
गिर गये प्रासाद पत्थर के, गिरे सब कोट,
बिछ गया जंगल धरा पर खाके उनकी चोट ।

''जलप्रलय के बीच जीवन सो रहा चुपचाप,
जो कहीं पहचान मिलती है, उसी की छाप;
जो बचे, खांडव विपिन में ले लिया था वास,
और फिर उस विजन भू पर गा उठा उल्लास ।

''नागकुल का खिल उठा एकदम नया संसार,
डोलता था मेघ बन कर उस विपिन में प्यार;
शीत में वैशाख हँसता, जेठ में फिर शीत,
ग्रीष्म की वर्षा से कैसी थी अनोखी प्रीत ।

''और एक दिन जल उठा वह वन, बुझी न आग,
अग्नि के पुतले बने-से जल गये सब नाग;
जल गये कि राज्य पांडव का खड़ा हो भव्य,
सब तरह से दिख सके जो पूर्ण, अद्‌भुत, नव्य ।

''सोच लो, जिस राज्य के राजा की ऐसी सोच,
निज प्रजा के भाग्य की मणि तीर से ले नोच;
किस तरह का राज्य होगा, किस तरह का भूप,
रेत पर जलते कुसुम पर हो बरसती धूप ।

''बुझ गई है आग, लेकिन क्या बुझी है आग ?
जल गये हों नाग, पर फुँफकारते हैं नाग ।
यह नहीं सागर उबलता, जो उठा फिर शांत,
कुछ क्षणों के वास्ते पागल बना उद्‌भ्रांत ।

''रूई या भूसे के घर में यह सुलगती आग,
क्यों मुझे लगता कि मैं ज्वालामुखी का राग ।
तब कहाँ कुछ शांत होता, न धरा, न व्योम,
सोख जाती अग्नि क्षण में संग्रहित सब सोम ।''

है वृषाली भी व्यथित कुछ मान कर निज दोष,
हो रहा है अपने पूछे प्रश्न पर ही रोष ।
सब छिपा कर कर्ण मन को खींच अपनी ओर,
शांत करने लग गई वह अपशकुन का शोर—

''शांत मेरे नाथ, सब कुछ हो चला जब शांत,
मौन के स्वर में अभी क्या कह गया कुछ प्रांत ।
क्या कहाँ की बात लेकर उड़ चले यूं व्यर्थ,
जो विगत बन रह गई है, शेष क्या कुछ अर्थ !

''यह चका, यह चक्र नदियों का, अनोखा स्वर्ग,
रच रहा है अंगभू पर जो मधुरतम सर्ग !
''नाथ, वह है कौन पंछी ? मुग्ध करता शाल,
पत्तियों के बीच गति यूं, कामिनी की चाल !

''आज तक देखा नहीं था, सच कहूँ मैं, नाथ,
ज्यों तमस में छुप रहा हो स्वर्णपंखी प्रात ।
माँ के आँचल से हुलकता, शिशु कोई चुपचाप,
हर रहा है इस विजन का शोक, सब संताप ।''

कर्ण ने देखा वृषाली का विमल नव हर्ष,
जिस धनुष पर हाथ थे, उनका हुआ अपकर्ष ।
दृष्टि द्वय में प्रश्न का भी, प्रेम का भी दान,
जा टिका पल्लव-विवर पर एक क्षण में ध्यान–

''यह तो हारिल है प्रिये, जो दिख गया तो धन्य,
इससे सुन्दर या लजीला दूसरा क्या अन्य ?
प्रेमी वन का, जंगलों का मानता है पाश,
चार रंगों को समेटे, दृष्टि में आकाश ।

''यह नहीं नीचे उतरता, अन्न की न चाह,
यह फलाहारी है पंछी, अलग इसकी राह ।
जो कहो तो पकड़ लूँ मैं, ले चलूँ निज संग,
स्वर बिखेरेगा सुरीला और मोहक रंग ।

''बीतने को अब चला है एक पूरा वर्ष,
रूप, रस, स्वर, गंध का देखा किया उत्कर्ष ।
याद भी आई नहीं चंपा की कुछ भी लेश,
दृष्टि के सम्मुख रही तुम और पीछे देश ।''

सुन सभी कुछ कर्ण की, बोली वृषाली, ''हाय,
छुट रहा है लोक यह, लेकिन बहुत निरुपाय ।
अब दिवस का अंत भी तो आ गया है, कांत,
जो रजत-सा दिख रहा था; हेम-सा है प्रांत ।

''आज ही तो लौटना भी, छोड़ कर यह लोक,
इस हृदय को घेरता है, क्या कहूँ, क्या शोक !
ज्ञात कुछ भी कब रहा रहते तुम्हारे साथ,
अब यहाँ रुकना उचित होगा नहीं कुछ, नाथ ।

''क्या बड़ी दी सोचती होंगी, न सोचा हाय,
निज सुखों के सामने मन किस तरह निरुपाय ।
छोड़ दो हारिल यहीं, हम क्यों उजाड़े गेह,
फूल, पत्तों और फल से पंछियों का नेह ।

''चाह बस लेकर चलें कि यह हमारा प्रांत,
जगमगाए गगन-दीपों से, रहे न ध्वांत !
गिरि-वनों में गूँज जाए नागों का फिर हर्ष ।
हाँ प्रिये अब लौट जाएं, बीतता है वर्ष !

''राजकुल के वास्ते भी हैं रखे कर्त्तव्य
नाथ से ही जब बँधा हो अंग का भवितव्य;
भार दीदी पर धरे सब यूँ बने निर्भार
राजसत्ता-भाग्य का तो यह नहीं उपचार ।

''क्या हुआ जो दीदी ऐसी बुद्धिमति भी, धीर,
नाथ के बिन राज भी तो पाँवों में जंजीर ।
देखती होगी महल से राह को, ले आस,
जानती हूँ मैं शिशिर की यह अनोखी प्यास ।

''कब रहा यह ज्ञात कि औरों का होता हर्ष,
नाथ, अब तो लौट जाएं, बीतता है वर्ष;
इस विछोह का जानती हूँ दुख बड़ा दुर्धर्ष,
पर अभी तो लौट जाएं, बीतता है वर्ष ।''

कर्ण ने देखा वृषाली को हृदय भर नेह,
हो गयी मधुगंध-सी थी एक क्षण में देह;
रक्त फेनिल की जगह है धवल अमृत-धार,
खिल रहे हैं दीठ में जूही, वकुल, कचनार ।

मौन का फिर छा रहा रसकोष-सा संसार,
फूल-सा ही रह गया है घट के गिरि का भार ।
बढ़ चले दोनों, जहाँ है रथ, उसी की ओर,
और क्षण में गिरि-वनों में कलरवों का शोर ।

स्यात सबको लग गई है, इस खबर की गंध,
फूल से बाहर निकल कर बिछ रहे मकरन्द;
दौड़ती चंचल हवाएं हो रही हैं शांत,
साँझ की किरणें लिए सर पर चली है ध्वांत ।

और अंगुल भर उठा रथ, फिर जरा कुछ और,
नाद रथ का जो उठा, गूंजे विपिन, गिरि, सौर;
फिर दिशाओं में भटकता ही रहा वह नाद,
शांत फिर ऐसा हुआ, ज्यों घेर ले अवसाद ।

मिट रहे दिक्काल गोचर उस तमस में घोर,
शब्द केवल गूँजते हैं मौन के सब ओर;
पर उमड़ता कर्ण के मन में ज्यों पारावार,
भर रहा है चेतना में मौन हाहाकार—

''क्यों उठा था धूमध्वज वह चंद्रमा को घेर ?
किस तरह बरसा रहा था आग कितनी देर !
चैत भी बीता नहीं है, पक्ष भर की बात,
नभ-सरित्पति पर उबलता अग्नि का संघात ।

''थी वृषाली नींद में तो कुछ लगी न टेर,
घेरता उसको वृथा ही अपशकुन का फेर ।
हिल रहा हो गिरि-शिखर जब, भूमि कैसे शांत ?
नाद घर्घर या हृदय का शोर ही सीमांत ?''

लालिमा लेटी हुई जो सो गई तम ओढ़,
कर्ण-मन को घेर कर निशि भी हुई है प्रौढ़;
एक ही गति से बँधा है कर्ण-मन, रथ-चक्र
हाँकता ही जा रहा है भाग्य-गिरिपथ वक्र ।

गवाक्ष पर्व
(सर्ग सोलह)

गंगा का तट, चंपा का वन, शीतल मंद समीर,
पुनरनवी के साथ कर्ण है, फिर भी हृदय अधीर;
किस चिंता में रह-रह कर मन दिखता कभी उदास,
श्री से सुन्दर पुनरनवी जब बैठी उसके पास ।

आज नहीं क्यों बाँध रहा है हारिल का संगीत,
ऐसी क्या शंका उठती है, कर जाती भयभीत ।
कल से ही सब कुछ लगता है बना-बना-सा भार,
मन को बाँध नहीं पाता है पुनरनवी-शृंगार ।

शिलाखंड पर दोनों बैठे रह-रह होते मौन,
आखिर क्या उठता है मन में, लगा रहा है रौन ?
बोल उठी सौरभ के स्वर में पुनरनवी बेचैन,
दूर हो सके, दिन में ही जो घिर आई है रैन ।

''नाथ, जान क्या मैं सकती हूँ, क्या था वह संदेश ?
अब तक भी जो हिला रहा है मन को बन कर क्लेष।
किसका था संदेश, कहाँ से आया था वह दूत ?
कुछ भी तो मैं समझ न पाती, कैसा दुख आहूत ?''

''पुनरनवी, कहने ही वाला था मैं वह सब बात,
मेरे मन के शांत सलिल पर लहरों का उत्पात;
कुंजरपुर से आया था, वह दूत लिए संदेश,
घेर रहा है कुरुपति को फिर वहीं पुराना क्लेष ।

''बीत गये बारह संवत्सर, बचा हुआ है, एक,
वह भी जो अज्ञात वास का, दिन ही कहाँ अनेक ।
चिंता यही सुयोधन को है, क्या कुछ करे उपाय,
जिससे हो विपरीत समय यह, उस पर सदय-सहाय ।

''लेकिन ज्ञात मुझे है, कुछ भी रहा नहीं अनुकूल,
राजसिंहासन के नीचे का टूट चुका है चूल ।
वहाँ सुयोधन सोच रहा है, अवधि अभी है शेष,
फूट पड़ा है और वेग से उसके मन का द्वेष ।

''नहीं चाहता पांडव लौटे; वन में करे प्रवास,
यह तो निश्चित राजधर्म का करना है उपहास;
अपने किए कर्म का पांडव भोग चुके जब ताप,
तब करने पर तुला हुआ क्यों कौरव-दल है पाप ?

''यह अनीति है; धर्म-कर्म क्या ? घोर नीचता, पाप,
हाय, सुयोधन लेना चाहे क्यों सर पर अभिशाप ।
क्या जाने यह किस भविष्य की दहलाती पदचाप,
उड़ती हुई हवा के तन पर दिखती काली छाप ।''

समझ सकी न पुनरनवी, कुछ खुली-अधूरी बात,
दिन के आँगन में बैठी हो पाँव पसारे रात ।
इधर-उधर की बातों से मन हटा, खींच कर ध्यान,
पूछा, ''आखिर क्या विषाद, जो डरी हुई मुस्कान ?

''नाथ, बताओ सारी बातें—क्या रहस्य, क्या राज ?
क्यों पल्लव के बीच छुपे हारिल को घूरे बाज ?
मन कैसा तो हुआ जा रहा, ऐसा कब था दीन !
शुष्क वृन्त पर पुष्प खिला, मकरंद-सुरभि से हीन ।''

पुनरनवी का प्रश्न सुना तो कर्ण हुआ गंभीर,
लगा खोलने व्यथित हृदय को, रोके मन की पीर—
''पुनरनवी, यह मोह राज का, सब इसका ही खेल,
दूर रखा है बंधु-बंधु को कब से जाने मेल ।

''डर है यही सुयोधन को, जो पूर्ण हुआ वनवास,
फिर तो आधा राज रहेगा पांडव के ही पास ।
शर्त यही है, जब तक बारह वर्षों का वनवास,
पांडव चाहे जहाँ रहें, वे रहें दूर या पास ।

''लेकिन जो अज्ञात वास का होगा अंतिम वर्ष,
वह तो किसी तरह भी संभव कहीं न होगा दर्श ।
पुनरनवी, यह वर्ष तेरहवाँ, उसका अंतिम मास,
यही सुयोधन की चिंता है; उसका यह उपहास ।

''और उसे लगता, पांडव का मत्स्यराज में वास
घूम रहे या छुपे हुए हैं विप्र बने या दास ।
गौ की बात पितामह ने कर, दिया यही संकेत,
क्यों न जड़ें जमा सकता है तब शंका का प्रेत ।

''एक प्रश्न है, आखिर किसने मारा है जीमूत,
मल्लयुद्ध में, जो लगता था महाबली का भूत;
फिर कीचक की मृत्यु, छुपी क्या रह सकती है बात,
इसीलिए तो यह हलचल है, ऐसा यह उत्पात ।

''टूटेगा अज्ञातवास का व्रत, बिगड़ेगा खेल,
कसना चाहे और सुयोधन फिर से नयी नकेल;
पर है ज्ञात कहाँ यह उसको, उलट गया है चक्र,
कल्प, काष्ठा, फिर मुहुर्त्त, दिन, पक्ष, मास-गति-वक्र ।

''इनमें फिर शशि और सूर्य की नई-नई गति, चाल,
अपनी ही गति से चलते हैं ग्रह-ऋतुओं के काल;
जिस दिन मिला सुयोधन का था मुझको यह संदेश,
मुझसे मिले पिता थे मेरे लिए विप्र का भेष ।

''एक-एक कर सारी बातें बता गये थे तात,
रुके नहीं थे, रहे बोलते सारी-सारी रात—
वृहन्नला की बात खुली, फिर सैरंध्री, फिर कंक,
कैसे बिता रहे हैं पांडव दिन को वहाँ निःशंक ।

''कैसे कीचक का इक दिन फिर बोल उठा था पाप,
सैरंध्री का सुना तात से मन का शांत विलाप—
'सूर्यदेव मेरी रक्षा का अब तुम पर ही भार,
लुटने वाला है सतीत्व का मेरा यह संसार ।'

''और तात ने भेज दिया था रक्षक, यम था काल,
पल की भी थी देर नहीं की; उलट गई थी चाल;
सैरंध्री पर लात पाप की भरी सभा के बीच,
कैसा चित्त हुआ था उस क्षण काल-घात से कीच ।

''यह सब हुआ, हुआ था यह भी, जागा पांडव क्रोध,
खड़ा हुआ था वीर पुरुष के आगे पर अवरोध ।
कृष्णा पर थी पड़ी लात, पर अर्जुन धारे धीर,
और वही सबकी आँखों में श्रेष्ठ, धनुर्धर, वीर (?)

''धर्मराज को भय इसका था, खुले कहीं न राज,
झपट पड़ा कीचक पर कोई अनुज अगर जो आज ।
रोक दिया था संकेतों से, स्वयं भी धारे धीर,
सचमुच में पांडव के जैसा कौन धरा पर वीर (?)

''सिंहासन की रक्षा में हो जहाँ नारी का मोल,
जो विष का है, होगा कैसे वह अमृत का घोल !
धरती की शोभा, ममता का, करुणा का शृंगार,
धर्मराज के आगे ही कीचक का अत्याचार ।

''नारी की इज्जत जाए तो जाए, पर न राज,
मुकुटों की छीना-झपटी में सिकुड़ी-सहमी लाज ।
छत्रधारी को ज्ञात सभी कुछ, फिर भी उसका रक्ष,
दंड हाथ में लिए हुए लेता अनीति का पक्ष ।

''उस शासन, उस छत्रधारी को लगे नहीं क्यों आग,
जहाँ कीचकों का गूँजा करता है कीचक-राग ?
वह तो कृष्णा ही ऐसी थी, चुप न रही, न शांत,
मध्य निशा में भीम पास जा पहुँची व्याकुल, भ्रांत ।

''जो-जो कहा भीम से उसने, कभी खुलेगी बात,
उसकी बातें सुनकर तो कैसे रोई थी रात ।
कहा झूठ क्या कृष्णा ने जब दहक गई थी चोट,
मन को खोल दिया था उसने ले पीड़ा की ओट ।

''किसी लोभ या भय से जो नारी का करे न मान,
वह कैसे हो सकता उसका स्वामी या भगवान ?
अर्जुन से तो कहीं अधिक है भीम गुणी, गुणवान,
कीचक का कर प्राण-हरण जोगा कृष्णा का मान ।

''इतना ही क्या, अर्थी पर कंपित कृष्णा का शोर,
वृहन्नला को डिगा सका न, सका जरा झकझोर;
तब अज्ञात वास का बँधन तोड़ भीम की आग,
उस मरघट से ले आया था सैरंध्री का भाग ।

''भीम सही में पुरुष, इसे क्या कहने में संकोच,
देश, काल, नारी के हित में जाग्रत जिसका सोच;
जिसका है पुरुषार्थ प्रबल, क्या उसको डर या लोभ,
कहीं दिखे अपकर्म; उबलता उसका सोया क्षोभ ।

''जगा नहीं जो पार्थ क्षोभ, तो क्या इसमें आश्चर्य,
नृत्य-गान में मुदित-भ्रमित-सा समाधिस्थ ब्रह्मचर्य !
दबा गया था नृत्य-द्यूत कृष्णा की करुण पुकार,
कौन लिखेगा नारी पर नर का यह अत्याचार ?

''मुझ पर तो चुप रहने का है बहुत लगा आरोप,
कहना हो तो कहे मुखर हो, कृष्णा का सब कोप ।
क्यों न भरोसा हुआ किसी पर एक छोड़ कर भीम ?
उमड़ पड़ा था उस पर ही क्यों उसका मन निस्सीम ?

''अस्त्रज्ञान के अहंकार में अर्जुन जितना लिप्त,
करुणा, दया, क्षमा से उसका कहाँ हृदय है दीप्त ?
दीप्त अगर होता तो जलता क्या खांडव का लोक,
धूम रहा है धरा-व्योम पर नागवंश का शोक ?

''इस अधर्म का कौन लिखेगा, हो तटस्थ इतिहास,
अग्निदेव का और पार्थ का हृदयहीन उपहास ?
लेकिन उन बातों से अब क्या, जिसको लिए अतीत,
युग को लाँघ गया है कब का; कहाँ हार या जीत ।''

इतना कह कुछ शांत हुआ नभ हेर रहा वसुसेन,
दिखता है सब कुछ ललाट से, फिर भी लगे, दिखे न ।
यह देखा तो पुनरनवी ने पकड़ हृदय का तार,
बोल उठी, ''किन बातों का यह कैसा उपसंहार ?

''बात चली थी किसकी लेकिन जा पहुँचे किस ओर,
सचमुच मन के आवेगों पर किसका कब है जोर ।
देख रही हूँ, अभी नाथ के भाव नहीं है शांत,
क्यों न चलें, अजगैविप्रस्थ पर, थके हुए हैं कांत''

''पुनरनवी, क्या याद दिलाया, जो धरती का स्वर्ग,
अंग सर्ग के साथ लगा हो ज्यों प्रत्यय-उपसर्ग ।
तीर्थकलश जो सोमद्वीप है, ऋषि जह्नु का धाम,
मोक्ष, सिद्धि, निधि का आलय है, सबका यहाँ विराम ।

''लेकिन अब क्या संभव है यह, समय नहीं अनुकूल,
इस वसन्त में गर्म हवा की चिंगारी-सी धूल;
सहमे हुए विहग उपवन में कल-कूजन न शोर,
भरी दुपहरी-सा लगता है एक पहर का भोर ।

''पंचानन की धार विरल है, सिकुड़ी-सहमी छाँव,
भरा नगर गंगा माता का बना हुआ है गाँव;
कैसे सहन करोगी यह सब लेकर स्वाति देह
दूर-दूर तक कहीं नहीं है, नभ में उड़ता मेह ।''

हुई अचंभित सुन कर ही वह बात उलट-विपरीत,
भरी निशा में उभर रहा क्यों भैरव का संगीत ?
लेकिन सहज रही ही कुछ क्षण बंद किए हृद-द्वार,
और लगी फिर देने शंकाओं को वह आकार ।

''नाथ, कर रहे कैसी बातें, यह फागुन का मास,
क्या मन सचमुच ही उदास है, या करते उपहास ?
कहाँ संकुचित गंगा के तट या पंचानन-धार ?
पुष्पों-कलरव से कितना तो खिला-खिला संसार !

''देखो न उस नील झील में खिले कमल-दल श्वेत,
रजत धूली-सी चमक रही है गंगा तट की रेत ।
अभी दिखा था मुझे वहाँ पर उड़ता एक चकोर,
उड़ा, न जाने किधर गया, बस मचा हुआ है शोर ।''

बातें सुनकर कर्ण अधर पर खिला कुसुम का हास,
खड़ा दिखा मधुमास वहीं पर बहुत निकट ही पास ।
हँस कर कहा कर्ण ने उससे, ''प्रिये, तुम्ही मधुमास,
तुम्हीं सिद्धि हो, निधि हो मेरी, आस और विश्वास ।

''इतनी बड़ी अंग की सीमा, सागर तक विस्तार,
सचमुच कठिन सँभाले रखना था शासन का भार;
लेकिन तुमने किया । धन्य हूँ। तुम पर ही गृहकाज,
जाना होगा मुझे हस्तिपुर, छोड़ तुम्हीं पर राज ।

''ताकि सुयोधन का पूरा हो सके गुप्त अभियान,
लेकिन कहाँ रहा है उसको वक्र काल का ध्यान ।
''जो अपनी ही चिंता में डूबा रहता दिन-रात,
उसे साँझ भी लगती है; ज्यों, उगता हुआ प्रभात ।

''मन का मोह क्रोध-सा उठता, हरता बुद्धि-विवेक
जिसको बस अपनी ही मति की मिलती रहती टेक ।
सोचो, जिसके साथ लगा हो भीष्म-द्रोण का ज्ञान,
जिनको पाकर भारत भर को गौरव है, अभिमान।

''जिनके सत से आलोकित है शक्ति-ज्ञान-आलोक,
जिन्हें देखकर सहमा रहता अँधकार का ओक;
तब भी अगर सुयोधन की मति बनी हुई है भ्रांत,
रश्मि-बलय को समझ रहा है चक्कर खाता ध्वांत;

''तो समझो कुरुवंश-श्रेष्ठ का भाग्य नहीं अनुकूल,
करता रहा सुयोधन ही क्यों बार-बार है भूल ।''
कह कर मौन हुआ जैसे ही कर्ण, नेत्र कर बंद,
फूट पड़े थे पुनरनवी-अधरों से खुरचे छंद–

''फिर क्यों साथ निभाने को यूँ बँधे हुए हैं नाथ ?''
''इसीलिए क्या द्रोण-भीष्म तक सब उसके ही साथ ।
इससे भी बढ़ हस्तिराज के मित्र, मेरे ही तात,
निभा रहे हैं दशकों से जो कुंजरपुर का साथ!

''अधिरथ के घर रहा पला, पाया शिक्षा का दान,
तात नहीं होते तो क्या मैं पाता वह सम्मान ।
विश्वजीत का पुत्र कर्ण तो अधिरथ का भी पूत,
इसीलिए तो, पांडव की आँखों में मैं हूँ सूत ।

''मिला किसे मैं, पला कहा फिर, कथा ज्ञात-अज्ञात,
समझो विवश कहाँ से मैं हूँ अगर सुयोधन साथ;
पर पांडव क्या घुले हुये हैं, अमृत के ये पूत?
क्यों आँखों में चुभता रहता एक अकेला सूत ?

''जहाँ कहीं अन्याय-अनीति का दिख जाता है खेल,
जोड़ लिया जाता है तत्क्षण मेरा उससे मेल ।
हस्तिराज के सम्मुख अधिरथ, मेरे तात विनीत,
समझो जोग रहा हूँ मैं भी पितृधर्म की रीत ।

''पुनरनवी, पर क्यों तुम होती ऐसे दीन-मलीन ?
किस चिंता में डूब गई तुम, कैसी व्यथा नवीन ?
समझ गया मैं, कैसी शंका, क्यों हो हुई अधीर,
गौवों के उस हरण-कार्य में मैं ही नहीं सुवीर ।

''भीष्म-द्रोण से लेकर इसमें शामिल है अतिकर्ण,
आगे होंगे भीष्म-द्रोण, तो पीछे होगा कर्ण ।''
इतना कह कर हँसा कर्ण, फिर कुछ-कुछ लगा अधीर,
विद्युत गति से छिपा गया पर मन की उठती पीर ।

कहीं दिखा न व्याकुलता का किंचित औन-न-पौन,
कहने लगा कर्ण फिर आगे क्षण भर साधे मौन—
''पुनरनवी, अब बोलो तुम ही, क्या अर्जुन, क्या भीम,
जहाँ भुजाएं ताने होगा विक्रम अतुल, असीम !

''कुछ भी नहीं वहाँ होना है, मन को करो न भ्रांत,
उद्वेलित अपने इस हृढ को अब तो कर लो शांत !
जो कुछ होगा अभिनय होगा, रंगमंच का युद्ध,
खुले गगन के नीचे रूपक-प्रकरण रूप विशुद्ध ।

''समरभूमि का दृश्य सजेगा, फिर कौरव-उच्छेद,
मत्स्यराज क्या कुछ समझेंगे, यह रहस्य, यह भेद ।
अर्जुन को ही मिला हुआ है बस मोहन का अस्त्र,
जिसको काट नहीं सकते हैं मिलकर भी सौ शस्त्र ।

''भले समर यह जैसा भी हो, होगा आखिर युद्ध,
छूटेंगे जब वाण धनुष से, होगी गति तो रुद्ध ।
वैसे में तो एक राह ही, मोहन का संधान,
क्या अटूट है नियम नियति का निश्चित यहाँ विधान ।

''लगता है, यह भी है कोई सोची-समझी चाल,
जिससे फिर मोहन की कोई नहीं गलेगी दाल ।
एक बार, बस एक बार यह अस्त्र करेगा काम,
फिर तो यह जैसे कि सिंह का पड़ा हुआ हो चाम ।

''घटित हो रहा होगा जब यह, तभी खुलेगा भेद,
पूर्ण हुआ अज्ञातवास है, बोलेगा यह वेद;
लेकिन यह भी हो सकता है, घट जाए विपरीत,
कौन कहें यह हार किधर है, और किधर है जीत ?

''सत्य निकल आए वह सब कुछ, अब तक लगे प्रपंच,
और रुधिर से रंग जाए फिर अभिनय का वह मंच ।
पुनरनवी, अब जो कुछ भी हो, मुझे सभी स्वीकार,
गिरि को विचलित क्या कर लेगा, पवन-नृत्य का भार ?

''चिंता है तो इसी बात की, छूटेगा फिर देश,
जाने कहाँ-कहाँ ले जाए अब का यह संदेश !
पता चला न, कैसे बीते सुख के बारह वर्ष,
छूट रहा है मुझसे मेरे नभ-आंगन का दर्श ।

''लौट आऊँगा, यथाशीघ्र मैं, चिंता नहीं परंच,
कितने दिन चलने वाला है छल का घोर प्रपंच !
तब तक तुम पर छोड़ रहा हूँ अंगदेश का भार,
पुनरनवी, मैं भूल सकूँगा कभी नहीं उपकार ।

''अधिरथ मेरे अभिभावक, उनकी भी दिखती चाह,
धृतराष्ट्र उनके तो ठहरे नहीं मित्र ही; नाह ।
जिस बंधन में बँधा हुआ मैं, रह जाता हूँ मौन,
इतना निबल बना जाता है मन में बैठा कौन ?

''लेकिन यह तो समय नहीं है कुछ गुनने का काल,
उधर सुयोधन मन में पाले भय-शंका के व्याल ।
लौटें अब हम दुर्ग, निशा भी होने को है शेष,
देर नहीं, होगा किरणों की पलकों का उन्मेष ।

''जाग रही है सभी दिशाएं, हैं सचेत दिक्पाल,
भले नींद में शांत-शिथिल हैं चम्पा के गिरि-ताल ।
पंचानन को नींद कहाँ है, कहाँ हवाएं शांत,
गूँज रहा जिनकी ध्वनियों से अलसाया यह प्रांत ।

''मणि-दर्पण से बढ़े हुए कुछ, फैले जिनके ताल,
कैसे झुके भला उस भू का भाग्य, दीपता भाल ।
सुधि आते ही अंगदेश की कुंजरपुर भी अंग,
इस चम्पा का चढ़ा हुआ है मुझ पर ऐसा रंग ।

''पुनरनवी, तुम उसी देश की रानी, अमृतधार,
टिका हुआ है तुम पर मेरे प्राणों का संसार;
मेरा क्या इतिहास तुम्हारे बिन; सूना-सा प्रांत,
मधुराका नारी ही बनती, पुरुष लगे जब ध्वांत ।''

भीग गई है पुनरनवी ऐसा बरसा है स्नेह,
नभ को घेरे बैठ गया है अनचोके ही मेह ।
सुना कर्ण के अमृत को तो दबी प्रेम के भार,
कहा, ''कहो अब कहाँ छिपाऊँ मणियों के उपहार ?

''धन्य-धन्य हूँ, नाथ, वही जो अंगदेश के प्राण,
जिनसे दृष्टि, त्वचा, रस पुलकित, शब्दसुधा के घ्राण ।
वही साथ है मेरे, मेरा धन्य-धन्य है भाग,
अंग-प्रजापति के यश-सा ही फैले यह अनुराग !''

सिहरा समीर, चटकी किरणें फूटे कुसुम समेत,
निद्रालस है भले नगर, पर गंगा कहाँ अचेत ।
रवि-ऊषा के चरण बढ़े, जागा कलरव का देश,
राग झिंझोटी के स्वर में है अब भैरव का भेष ।
जाने कब पूरब में उतरा रवि का रथ चुपचाप,
चम्पा के चेहरे पर अंकित नीलकंठ की छाप ।

प्रपंच पर्व
(सर्ग सत्रह)

''पुनरनवी, क्यों मन करता है, पत्र लिखूँ मैं,
वैसा ही; हर शब्द-शब्द में साफ दिखूँ मैं;
नहीं चाहता, कुछ भी आज छिपाना तुमसे,
निश्चल मन का भाव-निवेदन जाना तुमसे ।

''कह तो दिया तुम्हें था मैंने, क्या कुछ होना,
वही कर्ण पर अर्जुन का बस रोना-धोना ।
मीननगर में रोष पार्थ का किस पर फूटा,
एक सुयोधन और कर्ण पर । बाकी झूठा ।

''भीष्म-द्रोण को छोड़ सुयोधन पर झपटा था,
शेष क्रोध तो उसका बस मुझ पर उपटा था;
कामधेनु का हरण, तो केवल कूटनीति थी,
प्रकट हुई, जो श्रेष्ठ जनों की, छुपी नीति थी।

''मैंने भी कुछ सोच स्वयं को रोक लिया था,
क्षत्रहीन होने का सर पर शोक लिया था ।
लगा किसी पर दया दिखाना घोर पाप है,
यहाँ हृदय का मेल-जोल व्यापार-शाप है ।

''वहाँ जहाँ कि भावों पर ही ग्रहण लगा हो,
स्वर्ग जहाँ सोता हो लेकिन नर्क जगा हो;
जो विराट है, उस पर ही लघुता की छाया,
समझ रहा हूँ सब कुछ, बाकी जो भी, माया ।

''पुनरनवी, कुछ और लिखूँ, पहले यह लिख लूँ,
घेर रहा जो व्यूह मुझे है, उससे निकलूँ;
मुझमें हीन भाव को भरने तुले हुए कुछ,
कुछ तो भीतर-भीतर ही और खुले हुए कुछ ।

''इसीलिए अवसर पाते ही कह उठते हैं,
'सूतपुत्र है कर्ण' इसी की जप करते हैं;
ताकि शूरता मेरे मन-तन की कुंठित हो,
मंद्राचल-सा कर्ण-भाल यह भूलुंठित हो ।

''लेकिन पता नहीं है इनको, शूर-वीर जो,
बड़ुआ, पंचानन, कोशी का पिया नीर जो;
डिगने वाला नहीं पुरुष वह क्षुद्र चाल से,
लड़ता है जो मधु-कैटभ-सा कालव्याल से ।

''हँसी मुझे आती है अपने धर्मराज पर,
उन पर, जिनको गौरव है पांडव-समाज पर ।
सुनो, शल्य जब पहुँचा वहाँ युधिष्ठिर आगे,
सारी सेना सौंप सुयोधन को, बड़भागे ।

''कहा युधिष्ठिर ने क्या उनसे, वही कहूँगा,
व्यर्थ कथा की पृथुल धार में नहीं बहूँगा ।
कहा, 'शल्य जी, अगर सुयोधन को दी सेना,
तब उससे क्या रहा मुझे कुछ लेना-देना ।

'पर मेरा है एक निवेदन वह स्वीकारें,
भावी संकट के घेरे से मुझे उबारें !
दिया सुयोधन को सेना, तो क्या चिंता है,
इसमें शायद मेरा ही हित छुपा हुआ है ।

'रुका नहीं जो युद्ध कहीं, बस इतना करिए,
तात, कर्ण का बनें सारथी; मेरा सुनिए;
और सारथी बन कर ही अपनी बातों से,
उसके मन को बेधे रहिए आघातों से ।

'अपमानित हो हृदय कर्ण का विचलित होगा,
रण में अस्त्रकला विद्या से वंचित होगा;
समरभूमि में छिन जायेगा उसका लाघव,
और विजय पाना तब उस पर कहाँ असंभव ।'

''सुना शल्य, तो हँस कर बोले, 'यही करूँगा,
वाक्अस्त्र से सूतपुत्र के प्राण हरूँगा ।'
''पुनरनवी, मैंने यह जाना बात-बात से,
हूँ सचेत इस महाकाल में उसी रात से ।

''धर्मराज का धर्म वहाँ पर टिका हुआ है,
न्याय-नीति का पुण्य जहाँ पर झुका हुआ है ।
धर्मराज को ज्ञात नहीं, क्या मैं हूँ ? रवि हूँ,
परशुराम के विजय धनुष से निकला पवि हूँ ।

''अपशब्दों का अनल दीन को भले जलाए,
उसको क्या, जो हँसता इसको गले लगाए,
लेकिन यह जो जनाक्रोश, अवसाद-गरल है,
उसके पीछे का कारण भी नहीं सरल है ।

''कठिन अस्त्र से भी कराल है, वाणी दूषण,
वही आज ज्ञानी-पंडित के कुल का भूषण;
इससे तो धरती पर हलचल और बढ़ेगी,
अंबर तक जल जायेगा जो आग चढ़ेगी ।

''वाणी के अमृत से भूतल स्वर्ग बनेगा,
महाकाव्य के महाभाव का सर्ग खिलेगा ।
कृष्णा, अर्जुन, भीम, सात्यकी ये सब सारे,
समरभूमि के लिये बने आवाँ-अंगारे ।

''शान्त कहाँ है, दुर्योधन भी क्रोधानल है,
शशि के ऊपर सिमट रहा तम का काजल है।
पुनरनवी, राजा विराट के विज्ञ पुरोहित,
आये थे करने को शीतल पावक लोहित ।

''लेकिन बढ़ा गये वह लपटें क्रुद्ध अनल की,
बरसाया घी जहाँ जरूरत थी बस जल की;
लगे डराने धृतराष्ट्र को अर्जुन-बल से,
पैदल, हाथी, घोड़े, रथ के सेना-दल से ।

''और बताया, 'कौरवदल क्या उसके आगे,
मारे जायेंगे अर्जुन से सभी अभागे !
तीनों लोकों में अर्जुन-सा वीर नहीं है,
पार्थ-तीर के आगे कोई तीर नहीं है ।

'उचित यही होगा कि आधा राज्य इन्हें दें,
व्यर्थ भीम और कृष्ण-कोप-अभिशाप नहीं लें !'
''पुनरनवी, क्या दूतवाक्य ऐसे होते हैं ?
शान्ति चाहते, वीज युद्ध के पर बोते हैं ।

''तब वैसे में चुप ही रहता, घोर असंभव,
यह तो होता सूर्यवंश का निश्चय लाघव;
कहा, 'कहाँ तक खीचेंगे अर्जुन-बल-वाचन ?
कीचक की क्या कथा नहीं है ज्ञात, अपावन ?

'कहा द्रोपदी ने अर्जुन से जो कुछ, कहिए !
अगर नहीं तो पार्थ-शक्ति पर चुप ही रहिए !
जैसा कि कहते हैं सब ये, कहा आपने,
छाप नहीं देखी कि सब ही लगे छापने ।

'पांडव को अज्ञातवास में एक साल तक,
रहना था वन में या गिरि पर, नियत काल तक।
लेकिन वन की जगह रहे वे राजमहल में,
कौरव रहे समझते, वे तो हैं जंगल में ।

'लेकिन इससे ही मुझको क्या लेना-देना,
इधर शांति की बात उधर आमंत्रित सेना ।
सब कुछ मुझको ज्ञात, द्रुपद क्या चाहे मन से,
मुझसे कुछ भी छुपा नहीं, हो छुपा भुवन से ।

'द्रुपद-सभा; बलराम-कृष्ण के वच पर आखिर
क्यों सात्यकि भी रह न सका अंतर से इस्थिर!
कहिए तो बलराम कहाँ से दोषी दिखते ?
अगर युधिष्ठिर को ही वह कमजोर समझते ।

'जो कुछ कहा उन्होंने, सबको बुरा लगा था,
'कौरव वीर-बली है' कुछ क्या गलत कहा था ?
'शान्त भाव से बातें हो' जो कहा सही था,
डरने की थी बात कहाँ; क्या गलत कहा था ?

''लेकिन सात्यकि वहाँ अगर फिर जीत गया था,
शांति-सुलह का अमृत सीधे रीत गया था;
कहिए, क्या पहले पांडव ने नहीं किया यह,
राजाओं से सेना माँगी, संकट को कह ?

''कौरव ने जाना, तो पकड़ी राह वही फिर,
इससे हटकर राह दूसरी थी क्या आखिर ?
अगर सुयोधन की गलती थी, तो इतनी थी,
माँग लिया सेना को केशव से जितनी थी ?

''अगर कृष्ण को माँग लिया होता विवेक से,
सात्यकि और द्रुपद क्या दोनों कहते ऐसे ?
कौरव को कमजोर समझना बड़ी भूल है,
तना नहीं है, धरती में यह गड़ा मूल है ।

''पांडव या पांडव-सेना के बल की धमकी,
बस प्रलाप है उषाकाल में कायर मन की ।
राजकोष का स्वामी ही स्वामी होता है,
रक्षक इसको पाने को फिर क्यों रोता है ?

''राजपाट का बँटवारा तो कौरव-मन पर,
इसका निश्चय नहीं करेगा पार्थ धनुर्धर ।''
पुनरनवी, मेरी बातों से चिढ़ी सभा थी,
नहीं क्रोध में भीष्म, यहाँ तक कृपाचार्य भी ।

''क्या इतनी-सी बात भीष्म भी नहीं समझते,
कृपाचार्य या विदुर महापंडित के रहते !
मन में तो आया यह कह दें बिना छुपाए,
बड़े हितैषी, जो पांडव के सम्मुख आए ।

''जो पांडव पर दया द्रोण को बढ़ कौरव से,
दे देते क्यों नहीं, लिया जो राज्य द्रुपद से ?
लेकिन चुप रह गया बड़ों का मान बचाए,
तब भी मैं चुप रहा, वहाँ जब संजय आए ।

''आए, तो बस यही कहा उस भरी सभा में,
धौंस भरी वाणी में सब कुछ पार्थ-प्रभा में ।
कहा, 'कर्ण से कहने ही भेजा है मुझको,
(कुछ ऐसे कि पड़े सुनाई सब कुछ सबको)

'मन्द बुद्धि के सूतपुत्र का काल निकट है,
पांडव का बल रोके रखना बहुत विकट है ।'
''सुनते ही यह वचन शिराएं फूल गई थीं,
नीति-प्रीति की मालाएं खुल झूल गई थीं ।

''लेकिन स्वयं को रोका, जी को नहीं हिलाया,
हिल जाती धरती ही सारी । धर्म निभाया;
भरते रहे विरुद संजय पांडव-केशव के,
और सिले के सिले रहे थे मुँह भी सबके ।

''लगा सोचने—नागवंश के कुल का घाती,
संजयमुख से बोल रहा है वह सम्पाती ।
कहते, फिर कहवाते भी हो सूत मुझे तुम,
नाच रही है मृत्यु तुम्हारे सर पर छुम-छुम ।

'अगर कृष्ण के कारण ही तुम बच जाओगे,
बच के भी तुम कीर्ति-कर्ण की क्या पाओगे ?
राजवंश की कथा-कहानी में तुम होगे,
मुझे लोक के कंठ-कंठ में तुम पाओगे ।

'तेजहीन होकर जीना भी क्या जीना है,
कालकूट को यह तो जीते जी पीना है ।
प्राणहीन हूँगा लेकिन प्राणों में हूँगा,
दीन-हीन को नई प्रेरणा से भर दूँगा ।

'क्या तुम दोगे, बोलो अर्जुन, जी करके ही,
अगर बचोगे, तो समझो, हैं केशव स्नेही ।
शांतिदूत के मुख से धमकी समर विकट की,
देख रहा हूँ कुंजरपुर से छाया नट की ।

''केशव की बस और प्रतीक्षा है अब बाकी,
माया भी उठने देते हैं उस महिमा की ।
रण ही चाह रहे हो अर्जुन, तो रण होगा,
तुम होगे, या मैं हूँगा, मेरा प्रण होगा ।

''पुनरनवी, न जाने कितना सोच गया था,
उस क्षण मेरे रोम-रोम में समर मचा था ।
मन का समर रुका था, केशव जब आये थे,
मेरे सारे भाव छटे, जो भी छाये थे ।

''पर सात्यकि था साथ इसीसे भय उपजा था,
शंकाओं के नए बवंडर को सिरजा था;
यह कैसी है शांति, समर को साथ लिये हैं,
प्रेमी हैं कैसे वह, जो भयभीत किये हैं ?

''आतंकित कर गया सुयोधन को भी होगा,
क्या कोई जानेगा, उसने जो-जो भोगा ।
संजय की वह बात चुभी तो होगी निश्चय,
'राज्य कहाँ से होगा ? होगा कौरव का क्षय'

'शिवि-प्रपौत्र सत्यक का सात्यकि; क्या फल होगा
क्या समझेगा मूढ़ सुयोधन, क्या कल होगा'
''संजय की बातों से आहत वहाँ सुयोधन,
जो कुछ सोचा होगा वह क्या रहता गोपन ।

''सोचा होगा 'यही उचित है, उचित समय है,
केशव को बन्दी मैं कर लूँ, इसमें जय है;
और इधर बन्दी होते ही खेल पक्ष में,
पांडव के राजा भी होंगे कहाँ रक्ष में ।'

''कितना दीन दिखाता था वह वीर सुयोधन,
चुप कैसे रहता मैं करने से उद्‌बोधन ?
कहा, 'किया जो संजय ने अर्जुन-रथ-वर्णन,
इसमें क्या आकर्षण का दिखता है बंधन ?

'रही समर की बात, पितामह यह भी सुनिए,
प्राप्त हुआ ब्रह्मास्त्र मुझे भी है, यह गुनिए !
मत्स्य और पांचाल, कुरुष ही क्या कर लेंगे,
एक वाण से नरक द्वार पर पहुँचा देंगे ।'

''सुना मुझे तो उबल पड़े थे शान्त पितामह,
हिल जाते थे हाथ, पैर, गर्दन तक रह-रह ।
कहने लगे, 'कर्ण तुम खांडव वन को सुमरो,
अपने बल के अहंकार-वन में मत विचरो !

'चुन-चुन कर मारेगा अर्जुन; तुमको पहले,
आज सभा में जितना भी चाहे, वह कहले !
कौरव की रक्षा क्या तुमसे होगी ! जाना,
अपने प्राणों की रक्षा में विजय उठाना ।

'जहाँ पार्थ है, केशव वही खड़े, यह जानो,
उस सत्ता के पुरुष रूप को तुम पहचानो !
कालबद्ध हो कर्ण, नहीं तुम जान सकोगे,
स्वयं मृत्यु-पथ के पथगामी, क्या कर लोगे ?'

''कहते गये मुझे वह क्या-क्या, कहना मुश्किल,
व्याप गया था भरी सभा में माहुर फेनिल ।
रहना वहाँ कठिन था मेरा क्रोध-रोष में,
धैर्य कहीं भी शेष नहीं था हृदय-कोष में ।

''कहा, 'पितामह, खांडव वन की आग अभी भी,
जलती है जो प्राणों में क्या बुझे कभी भी ?
और जहाँ तक केशव की है बात, ज्ञात है,
घोर तमस में पीड़ित जग में उठा प्रात है ।

'पुण्डरीक, माधव, दामोदर, पुरुषोत्तम जो,
जग कहता गोविन्द और मधुसूदन भी तो;
इससे भी कुछ अधिक समझता हूँ केशव को,
रखना बहुत कठिन है सब छवि के वैभव को ।

''लेकिन मेरी खातिर जो कुछ कहा आपने,
मेरे भीतर एक शपथ है लगी व्यापने ।
सुनिए तात, पितामह मेरी यही शपथ है,
जहाँ आप हैं, दूर-दूर ही मेरा पथ है ।

'किसी सभा में या फिर रण में साथ न होना,
हीन वचन को हरदम क्या कांधे पर ढोना ।
रखता हूँ यह धनुष-वाण, अब नहीं मिलूँगा,
जब न दिखेंगे आप, युद्ध में तभी दिखूँगा ।

''पुनरनवी, लौट आया मैं कह सभाभवन से,
उस दिन मैं सचमुच ही टूटे भारी मन से;
उस दिन जाना, मायानगरी यह कुंजरपुर,
भेद यहाँ कर पाना मुश्किल कौन असुर-सुर ?

''सब ही यहाँ मुखौटों में सज्जित, सुन्दर-से,
भीतर जो है, तप्त वही, शीतल बाहर से ।
कुछ दिनों तक रहा बहुत बेचैन अयन में,
लगा अकेले टूट रहा हूँ भरे भुवन में ।

''और तभी संदेश मिला, केशव आएंगे,
अटके हुए विपथगामी को समझाएंगे ।
मन को कुछ-कुछ शांति मिली विश्वास हुआ था,
लेकिन क्या था ज्ञात, पुनः परिहास हुआ था ।

''केशव आये मिले विदुर से, खाना खाया,
कुरुनन्दन को बहु विधि से समझा, समझाया;
यह भी कहा, 'पार्थ से लड़ना क्या है वश में ?
पांडव से जो संधि करोगे, जीवन यश में ।'

''वही पुरोहित-संजय की वाणी चढ़ आई,
अर्जुन की महिमा की खुलकर कथा सुनाई ।
यह भी कहा 'कर्ण या कृप ही काम न देंगे,
भीष्म, द्रोण ही क्या अर्जुन के प्राण हरेंगे ?

'भूलो नहीं सुयोधन, सात्यकि के बल हो तुम,
संधि-मार्ग को छोड़ पकड़ते हो खल को तुम ।
आधा राज्य विभाजित करना जो खलता है,
पाँच ग्राम देने में फिर क्यूँ जी जलता है ?'

''सुनकर सब कुछ उठा सुयोधन, इतना बोला,
संचित जो अब तक था मन में, उसको खोला—
'कुंजरपुर का राज्य कौरवों की थाती है,
फिर पांडव की बात यहाँ पर क्यों आती है ?

'पाँच ग्राम की बात बड़ी है, केशव सुनिए,
सेमल की कच्ची रुई को यूँ मत धुनिए !
पाँच ग्राम क्या, सूई की भी नोंक बराबर,
देने वाला नहीं; नहीं दिखलाएं वामर ।'

''कह कर इतना निकल गया वह सभा-भवन से,
देखा था केशव ने उसको व्याकुल मन से ।
करना नहीं सुयोधन को जो, वही कर गया,
शांतिदूत केशव के मन में रोष भर गया ।

''कहा भीष्म से, 'अब तो कोई पंथ नहीं है,
एक अंत है, छोड़ इसे कुछ अन्त नहीं है ।
कर्ण, दुशासन, दुर्योधन के संग शकुनि को,
बाँध, उतारें ग्रह को साढ़े साती शनि के ।

'सौंप इन्हें दें बंदी बनाकर पांडव को अब,
और किसी विध नहीं मानने वाले कौरव ।'
दुष्ट हृदय के साथ शांति की बातें क्या हो,
चट्टानों को चीर बीज क्या बोना चाहो ।

''पुनरनवी, जाना जब मैंने, टूट गया था,
शांति-मार्ग निश्चय ही पीछे छूट गया था ।
लगा सोचने, केशव ने क्यों कहा वचन यह ?
उनके तो अनुकूल नहीं था कभी कथन यह ।

''क्या कृष्णा की बातों से वह रहे प्रभावित,
बची-खुची आशा भी अब तो दिखती शापित ।
जब शापित हो पंथ-काल, तो क्या होना था,
मृदुल हास को अधरों पर सिमटा रोना था ।

''जो केशव ने कहा, वही कुरुनंदन ने भी,
हो सकती थी संधि जहाँ संवादों से भी ।
केशव को बन्दी करने की कूटनीति तब,
चढ़ी सुयोधन के माथे पर बनकर आसव ।

'अगर कृष्ण को बंदी कर लें, पाण्डव हारे,
सोच नहीं सकते पांडव, कौरव संहारे ।'
''पर सात्यकि को भनक लग गई कूटनीति की,
सभा अघोषित समर बन गई हार-जीत की ।

''कृतवर्मा से कहा, 'तुरत सेना ले आए !
व्यूह रूप में उसे द्वार पर स्वयं लगाए !'
''फिर जाकर केशव से बोला 'यह भी सत् है,
दुर्योधन-षडयन्त्र सिद्धि में उधर निरत है ।'

''सुनते जागा क्रोध अनल-भव-तब केशव का,
लगा बदलने रूप काल-सा तब माधव का;
आँखों में जल उठी आग, बाहों में सागर,
गर्म उसाँसों की लपटें पूर्वा को पाकर ।

''ब्रह्मा झलका दिप्त भाल पर, रुद्र हृदय में,
कुरु का संशय हटा रहे, पर कुछ संशय में;
वाणी से ही बता गये सबको केशव यह,
'कैसे बड़वानल उगलेगा नील कमलदह ।

'लोकपाल, आदित्य, मरुदगण, असुर, यक्ष तक,
सब मुझसे ही संचालित हैं, इसमें क्या शक ।
मैं पांडव में, पांडव मुझमें, शक्ति-शिवालय,
पड़े अतल में क्या देखोगे तुंग हिमालय ?'

''सबकुछ सुना सुयोधन ने, क्या सुन भी पाया ?
कैसे सुनता अपने में खोया-बौराया !
शायद उसके कान तभी से बंद हुये थे,
भरी सभा में केशव ने जो वचन कहे थे—

'कुल की रक्षा करनी हो, तो वहाँ पुरुष को,
और ग्राम की रक्षा में अपने कुल-कुश को ।
मुदा जहाँ हो बात देश की, वहाँ ग्राम को,
फिर अपनी ही रक्षा में इस सृष्टि-धाम को;

'त्याग चलें, तो इसमें कुछ भी पाप कहाँ है ?
न्याय-माप है यही, दूसरा माप कहाँ है ?
कर्ण-सुयोधन को बंदी कर पांडव को दे,
इन्हें छोड़ कुरुनन्दन कुल पर पाप न लादे !'

''रहा सोचता केशव की बातों को अविरल,
उधर सभासद, भूप, मंत्रीगण बैठे निश्चल ।
उठे सभा से कृष्ण, वहाँ से बाहर आए,
दुर्गद्वार पर मुझे देख हर्षित, मुसकाए ।

''रथ पर मुझे बिठाया, फिर तो प्रेम भाव से,
सच कहता हूँ, भीग गया था उस लगाव से;
कोई इसे कहेगा, वंकिम चाल निराली,
चढ़ी हुई दिन की छाती पर रजनी काली ।

''मुझसे बात हुई जो, हित ही वहाँ निहित था,
अगर कहीं कुछ था तो वह बिल्कुल किंचित था ।
उनके मुँह से जन्मकथा अपनी, क्या बोलूँ,
कितनी बार हृदय की पीड़ा ऐसे खोलूँ !

''मेरे भावों, अनुभावों का आसन डोला,
उनकी बातों के उत्तर में इतना बोला—
'केशव, अपनी जन्मकथा से मैं परिचित हूँ,
पंचानन, गंगा के जल से मैं सिंचित हूँ ।

'भले युधिष्ठिर, पार्थ, भीम सब अनुज रक्त से,
श्रेष्ठ मुझे ही मान मिलेंगे शुद्ध भक्ति से;
लेकिन क्या होगा कौरव का, जिसका बल मैं ?
रुद्ध धमनियों और शिराओं की हलचल मैं ।

'जिसने मुझको मित्र कहा है, भाई बोला,
सूतपुत्र कह कर न मन में विष को घोला;
''क्या होगा, जो प्राणों में है मुझे बसाए,
चलता है, अपने कन्धों पर मुझे उठाए ।

'अब उसको ही छोड़ पांडवों से मैं मिल लूँ ?
पारिजात-सा मान-सरोवर में जा खिल लूँ ?
केशव, यह क्या आप कह रहे, सोचा न था,
रोक लीजिए, संधि-मिलन की अनुचित गाथा !

'राज-सिंहासन रिश्तों से ऊँचा क्या होता ?
मैं वह नहीं, सिंहासन को कंधे पर ढोता ।
क्या छोड़ेंगे आप पांडवों को, कहिए कुछ ?
तो कैसे छोड़ूँ कौरव को ? मन क्या लुरपुच ।

‘कहिए केशव, इससे क्या सन्देश मिलेगा ?
मित्र-मित्र के बीच अडिग विश्वास हिलेगा !
राजवंश में कूटनीति-छल खेल भले हो,
सत्ता के हित द्वेष-घृणा में मेल भले हो ।

‘लेकिन जो संन्यासी है, होकर भी भूपति,
उसको क्या ऐश्वर्य-भोग से किंचित हो रति !
केशव, मुझको ज्ञात सभी कुछ क्या होना है,
यश-अपयश-शुभ-हानि विषय पर क्या रोना है !

‘इधर सुयोधन राज्य नहीं देने को तत्पर,
आधा क्या, बस सूई की भी नोंक बराबर,
और इधर माता कुन्ती की इच्छा अद्‌भुत,
तीनों लोकों का स्वामी हो अर्जुन अच्युत !

‘यही कहा है माँ ने ही, कहिए क्या मिथ्या ?
इससे तो सब शांति-संधि की होती हत्या ।
सौरीघर में क्या भविष्यवाणी की माया,
अब जाकर माँ ने है जिसका सूत्र उठाया ।

‘कौरव को कर नाश बनेगा अर्जुन अधिपति,
इससे अब तक नहीं हो सकी किंचित उपरति ।
यह भी है विश्वास जननि का, आप सहायक,
पार्थविजय में केशव होंगे कष्टविनायक ।

‘‘फिर तो लगता है मुझको क्या संधि-वंधि यह,
शांतिदूत का आना-जाना महज भ्रांति यह ।
अच्छा होगा, जो होना है, होने दीजे,
जो भावी है, उसमें देर नहीं ही कीजे !

'पर इसके संग सुने याचना यह भी मेरी,
जान न पाए पांडव मेरी व्यथा घनेरी !
मेरी जन्मकथा रखियेगा उनमें गोपन,
जानेंगे, तो राज्य छोड़ भटकेंगे निर्धन !

'क्षत्रिय हैं, क्षत्रियों का पहला खेल समर है,
हार-जीत या जन्म-मरण की कथा अमर है ।
माँ की इच्छा : अर्जुन क्षत्रिय-धर्म निभाए,
मेरी भी इच्छा है, वह दिन देखूँ, आए !'

''पुनरनवी, सुनकर ये बातें केशव बोले—
गुस्से में मारुत से जैसे पल्लव डोले—
'तो फिर समझो, युद्ध छिड़ेगा निश्चय ही अब,
नाच रहा है जटा खोलकर उन्मत भैरव ।

'महानाश का बादल अब खुल कर बरसेगा,
स्नेह धरा पर करुणा को सदियों तरसेगा;
शोणित के जो लेख लिखे जायेंगे भू पर,
उसके छींटे देख सकोगे लता-प्रसू पर ।

'महाकाल के आवर्त्तन में देर न जानो,
घिरा आ रहा नभ में जो तम को पहचानो !
लौटो, कहना द्रोण, पितामह से यह आशय,
अभी आज से ठीक सातवें दिन ही निश्चय;

'महाकाल का नर्तन होगा अँधियाले में,
शोणित का सागर उमड़ेगा तम-प्याले में ।
कर्ण, तुम्हारे सर पर इसका दोष चढ़ेगा,
सिर्फ सुयोधन के माथे पर नहीं अड़ेगा ।'

''कहा कृष्ण से इतना ही तब मैंने—'सुनिए,
निर्धारित जो पूर्व समय से उसको गुनिए—
पांडव के उस राजसूय के पूर्ण यज्ञ पर,
द्वैपायन श्रीकृष्ण-युधिष्ठिर का प्रश्नोत्तर ।

'उत्तर क्या था, वर्ष तेरहवाँ जब आयेगा,
क्षत्रियों का संहार धरा पर बिछ जायेगा ।
द्वैपायन की बात भला क्या खाली जाए,
इसमें कर्ण-सुयोधन क्यों दोषी कहलाए ?

'कहिए केशव, कृष्णा ने जो कुछ बोला था,
सात्यकि ने वाणी से कितना विष घोला था,
और द्रुपद की कूटनीति को जरा खोलिए !
इस पर क्यों केशव यूं चुप हैं, मन टटोलिए ।

'बैठे हैं पांडव-दल के सब समर बिछाए,
इसमें कर्ण-सुयोधन क्यों दोषी कहलाए ?'
''फिर उत्तर की किए प्रतीक्षा बिन मैं बोला,
बड़े विनय के स्वर में अपना अन्तस खोला—

'केशव, अब तो महासमर में भेंट हमारी,
जीत-हार उसकी ही निश्चित, जिसकी बारी'
''इतना कहकर गले लगाया था केशव को,
उतर गया था रथ से रोके मन के रव को ।

''लौटा राजमहल था लेकिन मन इस्थिर क्या ?
स्वाप लगे आँखों के आगे आने, क्या-क्या !
हिरण कौरवों के बायें से भागे जाते,
पर पांडव की दायीं दिश से दौड़ लगाते ।

''मित्र सुयोधन के अश्वों की गीली आँखें,
पांडव रथ से जुते हयों की निकली पाँखें ।
सात दिवस ही शेष अमावस के आने में,
समरभूमि में महाप्रलय के फट जाने में ।

''महाकाल का रूप मुझे भी धरना होगा,
भारत को भी याद रहे, कुछ करना होगा ।
पुनरनवी, यह पत्र यहीं तक, शेष पुनः फिर,
तुमको भी कितना विचलित कर सकता आखिर ।

''समर शेष होते ही चम्पा लौट चलूँगा,
अग्निकुंड है कुंजरपुर यह; नहीं जलूँगा''
देखा नभ की ओर कर्ण ने शीष उठाकर,
अपने मन को शरतकाल का मारुत पाकर;

पत्र तीर के अग्र भाग से बँधा उठाया,
विजय धनुष की प्रत्यंचा पर उसे चढ़ाया;
खींचा, क्षण में छोड़ दिया चंपा के नभ पर,
उठा व्योम में, गिरा कर्ण के गढ़ में जा कर ।

जहाँ साँझ को पुनरनवी बैठा करती है,
स्वप्नों के शत इन्द्रधनुष से घर भरती है,
वहीं गिरा था वाण, उसी के पास, पंख-सा,
पुनरनवी का गूँजा था मन मौन शंख-सा ।

पुनर्नव पर्व
(सर्ग अठारह)

चुप हुये धनवंतरी अधिरथ-कथन से,
जम गया हो रक्त सारा, शून्य-सी हो देह;
और फिर तो कंठ भीगा, वचन भीगे,
इस तरह कि कंठ में उतरा हुआ हो मेह ।

''कह रहे हैं क्या, नहीं विश्वास होता,
दे दिया कुंडल-कवच को छील अपनी देह;
आह तक न की, नहीं की देर कुछ भी,
रक्त उतरा जम गया; ज्यों रक्त रंजित रेह ।

''यह अघट, कैसे घटा, अब क्या सुनूँ मैं,
बैठिए अधिरथ, रखे धीरज, हृदय कर शांत;
ढूँढ लाऊँ जो जरूरी बूटियाँ हैं,
इस तरह क्यों आप विचलित हो रहे हैं श्रान्त !

''अंग का मंदार औषध है, अमय है,
शव यहाँ शिव हैं, जड़ों में फूटते हैं प्राण;
पापहरणी का लगे जो जल अचोके
तीनों तापों से समझिए एक क्षण में त्राण ।

''पापहरणी का सलिल संजीविनी है,
ताप ही क्या, मृत्यु भी इससे बहुत भयभीत;
इन्द्र का वह शोक क्या धुलता कभी भी,
जो नहीं मिलता सलिल के पुण्य का नवनीत ?

''शाप गौतम का अडिग था, डिग गया पर,
इस लहर से वह लहर थी हो गई चिर-शांत;
आ गये हैं तात, तो सब कुशल होगा,
धैर्य धरिए, मन नहीं हो इस तरह उद्‌भ्रांत !''

ले लिया जड़मूल, बूटी, जल कलश में,
चढ़ गए धनवंतरी रथ पर लिये सब साथ;
छोड़ धरती को उठा रथ चार अँगुल,
सारथी अधिरथ कशा पर हैं जमाये हाथ ।

अब भी अधिरथ पर वही छाया हुआ है,
ज्यों, प्रलय के मेघ-सा ही, घिर रहा अवसाद;
हो भले ही वेग रथ का प्राणवायु में,
पर वही अब भी विगत से मौन का संवाद ।

देख यह धनवंतरी ने उससे पूछा,
''क्या पता कुछ चल सका कि वह छली था कौन?
या सभी के पूछने पर भी शिला-सा
रह गया था; काठ बन कर शान्त, बिल्कुल मौन ?''

सील-सी आँखें घुमी धनवंतरी दिश,
बर्फ-सी शीतल गिरा, तो हो जमा-सा कंठ;
खींच कर साँसें, सजग कर चेतना को,
लग गये कहने हैं अधिरथ तोड़ कर जड़ शंठ—

''तात, जो कुछ आपने सोचा, न मिथ्या,
पर सुयोधन प्रश्न पर हो कर विवश वसुषेन,
कह गया, बिन कुछ छिपाए अंश भर भी
रोक कर अपने वसन से वह रुधिर का फेन—

'मित्र, तुमसे झूठ बोलूँ क्या, सुनो सब,
रात में आए पिता थे, श्याम तन-सा वर्ण,
और बोले, 'विप्र बन कर इन्द्र छली वह
आ रहा है, सजग रहना, पुत्र मेरे कर्ण !

'ये तुम्हारे कवच-कुंडल प्राणरक्षक
जो विजय के ध्वज-पताका, अस्त्र के बिन अस्त्र;
आँधियों के बीच बालक सहमे शिशु पर
ये कवच-कुंडल तो माँ के वक्ष, आँचल, वस्त्र।

'अब इन्हें ही छल-कपट से इन्द्र चाहे
दान में ले लूँ, तुम्हारी जीत पर हो जीत;
जो सफल वह हो गया इस कर्म में तो,
पांडवों की जीत समझो; भय से हूँ भयभीत ?'

''कर्ण ने छूए चरण फिर से पिता के,
और बोला, 'आप क्या यह कह रहे हैं, तात;
पुत्र हूँ मैं उस पिता का जिनका जीवन
दान की उज्ज्वल विभा से हो रहा अवदात !

'जो नहीं देते प्रभा इस लोक को तो
पिंड भर होता तमस का, सब अगोचर, हाय;
जब पिता की प्रेरणा ही सामने हो
दान से कैसे डिगूँ फिर, मैं बना निरुपाय !

'पुत्र जो अपने पिता के कर्म-पथ-पर
बिन बने विचलित हमेशा ही रहे गतिशील,
वह मृत्यु को मात देता ही रहा है
जानता हूँ, काल उसको क्या सकेगा लील ।

'यह पिता ही, संतति में प्राण बनकर
स्वर्ग तक उसको उठाए बढ़ रहे दिन-रात;
गिरि-शिखर पर मेघ का संगीत जो हैं,
मानसर में खिल रहे युग से धवल जलजात !

'क्या कहूँ मैं मित्र, देखा तात को तो
भर गया मन में नया ही वेग ले उत्साह;
देखकर शायद उसी को ही पिताश्री
जा चुके थे फिर उसी तम में उलटकर, आह!'

चुप हुए अधिरथ सुना कर सब अकथ को,
सामने फिर कर्ण की थी रक्त लथपथ देह;
देख कर धनवंतरी विचलित हुए थे,
कह उठे यह तोड़ते-से बीच के संदेह—

''फिर किया होगा वही तो, जो कहा था''
बोल कर धनवंतरि चुप हो गये थे शान्त,
कपकपाए थे अधर, दृग डबडबाए
छा गया आँखों के आगे नील लोहित प्रान्त ।

कुछ न अधिरथ ने सुना, कहता गया ही
लग गए थे पंख मन को, रथ-हयों के संग;
बस दिशाओं में निनादित नाद रथ का
चढ़ गया था लालिमा पर घोर नीला रंग।

''मैंने कुछ पूछा, नहीं उत्तर मिला क्यों ?''
सुन सजग अधिरथ हुए थे, छोड़ सुधि का न्यास;
शून्य से नीचे उतर कहने लगे सब,
दृष्टि से देखे हुए का दे रहे आभास–

''तात, जब पहुँचा वहाँ पर जानकर ही सब,
रह गया सिल देखकर, था कर्ण फिर भी शांत;
सोच भी पाया नहीं मैं देर तक ही,
इस तरह भी थिर कहीं रहता कोई आक्रान्त ?

''कह रहा था, 'धर्म ही मैंने निभाया है,
दान तो है अंगभूमि की पुरातन रीत;
अंग के बलि और शिवि की वे कथाएँ
दूर गिरि पर ज्यों पहाड़ी गूँजता संगीत ।

'परशुधर के दान को ही क्यों भुलाएँ,
दे दिया था पृथ्वी को स्वर्णवेदी साथ;
और फिर मंदार पर जो जा बसे थे
द्रोण को भी मंत्र-आयुध दे के खाली हाथ ।

'पूर्वजों की रीति को रक्खा जुगाकर,
इसलिए तो कवच-कुंडल का किया है दान;
मैं पला जिस भूमि पर, जन्मा जहाँ मैं,
कर सके मुझपर हमेशा देश वह अभिमान ।

'दान कुंडल-कवच का क्या दान केवल,
इस बहाने रख लिया है हर किसी का मान;
जीत निश्चित कर गया हूँ पार्थ की मैं,
माँ का, गुरु के संग पिता का, कर पितामह-ज्ञान।

'अब महाभारत मचेगा दृश्य भर को,
हो गया है युद्ध का वह लक्ष्य ही अब शेष;
जीत का या हार का अब अर्थ क्या है,
प्राण का संकल्प ही जब हो गया निःशेष ।

'पर शिराओं में प्रवाहित रक्त अब भी,
कसमसाती है भुजाओं में कोई कुछ चाह;
जानता, प्रतिकूल है मुझसे विधाता,
भीम गज को खींचता है एक लघु-सा ग्राह ।'

चुप हुए अधिरथ सुना कर कर्ण-मन को,
पर कहाँ चुप रह सके, फिर मुँह से फूटे बोल,
हो गई साकार पीड़ा बाँह खोले,
रख दिया धनवंतरी के सामने मन खोल—

''हँस पड़ा था जब कहा था कर्ण ने यह,
पर सुयोधन को निरख कर हो गया था शांत;
आग आँखों की हुई थी शान्त-शीतल,
एक क्षण को छा गया था हर दिशा में ध्वांत ।

मन सुयोधन का समझ कर भाव सारे
कर्ण ने इतना कहा, 'मैं भाग्य पर बलवान;
मैं भुजा की शक्ति को बस जानता हूँ
देवता मेरे लिए, मेरे लिए भगवान !

'क्या हुआ जो कवच-कुंडल से रहित हूँ,
मैं अभी भी वह कि जिससे काँपता है काल;
हैं अभी भी मुट्ठी में सारी दिशाएं,
काँपते नरपति दिशा के, काँपते दिक्पाल ।

'मैं महाभारत-विजय को मित्र-कर में
रख सका न, तो मेरा यह देह धरना व्यर्थ;
क्या हुआ जो कवच-कुंडल हीन हूँ मैं,
शक्ति की कुछ भी कलाओं से नहीं असमर्थ ।

'मित्र यह जो सामने हैं अस्त्र रक्षित,
विप्रभेषी देवपति का है दिया प्रतिदान;
ग्लानि, पश्चाताप से ही मुक्ति खातिर
रख गये हैं सामने अबहित-विहित सामान ।

'कह गये, वज्रास्त्र है, न चूकता है,
चोट खाकर देवता क्या, प्राण खोते काल;
बस यही समझो, गरुड़ है चोंच खोले,
काल इसके सामने तो हाथ भर का व्याल ।

'पर छुटेगा जब, नहीं लौटेगा फिर तो
शक्ति इसकी आ मिलेगी मुझमें, हो यह ध्यान;
छोड़ जाता हूँ इसे स्वीकार करना,
मर रहा हूँ ग्लानि से, मुझको मिले परित्राण !'

'रथ चढ़े रख कर इसे, मुड़कर न देखा,
देवपति की जीत की कैसी सिहरती हार;
वज्र पत्थर की तरह तब से पड़ा है,
किस तरह से अंगपति यह कर सके स्वीकार!

'दान को जिसने दिया है, दान लेगा ?
मैं नहीं हूँ जानता, है दान का प्रतिदान;
हो भले ही रीति सुर की या असुर की,
पर नहीं इसमें छिपा है अंग का सम्मान ।'

मणि दिखे तम में, दिखीं आँखें उसी-सी,
भर गये गौरव से अधिरथ, कर्ण को कर याद;
हट गया हो एक पल को शोक सारा;
कर रहा हो भोर जैसे रात से संवाद–

''सुन हुआ विचलित सुयोधन, हर्ष भी था,
वज्र ही अब कवच-कुंडल का करेगा काम;
खींच लायेगा यही वह रात अर्जुन की,
हो भले कर में लिए दिव घूमती हो शाम ।

''मुस्कुराया कर्ण, मन की ताड़ बातें,
कुछ नहीं बोला, छिपाये ही रहा वह भाव;
रक्त लथपथ देह की पीड़ा से बढ़कर
चोट करता था हृदय पर मन का रिसता घाव।

''बुदबुदाया, 'दान का आनन्द क्या है,
मित्र, तुमने आजतक जाना नहीं यह राज;
बस-सिंहासन-मोह में डूबे रहे तुम,
भाइयों पर गिद्ध बनकर और बनकर बाज ।

'अनुभवों का लोक अपने पास भी है,
कर न पाए वृद्ध जन के ज्ञान का सम्मान;
हैं विदुर, गुरु द्रोण, कृप भी, हैं पितामह,
साथ में संजय से ज्ञानी, कब रहा यह ज्ञान !

'जो बुजुर्गों की प्रभा से दूरगामी
सीख लेता ही नहीं है अपने मद में चूर;
संकटों को वह निमंत्रण दे रहा है,
हो रहा अपने लिए ही बहुत निर्दय-क्रूर ।

'मित्र, मन की मानते तो यह न होता,
घिर रहे हैं नाश के जो मेघ काले घोर;
प्राण लोगे या पलट कर प्राण लेंगे !
खिंच गई है डोर धनु की अब तो दोनों ओर।'

रुक गये सहसा, कहे क्या आगे, अधिरथ,
किस तरह से कर सके उस दृश्य को साकार;
पर लगा, जो कुछ हुआ, कहना कठिन है,
बस यही इतना कहा होकर विवश लाचार—

''कुछ न समझा था सुयोधन ने समझकर,
मुग्ध था कुछ सोचकर; मन में विजय का भाव;
और मैं व्याकुल बना निज देश आया,
आपके बिन कौन है, जो भर सकेगा घाव !''

सुन लिया, सब कुछ सुना धनवंतरी ने
कर लिया आँखों को अपनी, एक पल को बंद,
और फिर कहने लगे अवरोह में हो
झर रहे हों, शिशिर की ही ओस-सा मकरंद—

'ठीक मधुसूदन करेंगे, मैं कहाँ कुछ,
पर कहें अधिरथ, सही में इन्द्र ही था विप्र ?
किस तरह देखा गया होगा भला यह;
क्या नहीं जड़ हो गई थी बुद्धि उनकी क्षिप्र ?'

भर गया अवसाद से मन प्रश्न सुनकर,
क्रोध के कण भी उसी में; जल रहे खद्योत;
बोध कर मन दीन स्वर में जो कहा, वह
ग्रीष्म के जलकुंड से झरता विरल जलस्रोत—

''झूठ क्या, सुनिए, सुनाऊँ ! इन्द्र तत्क्षण
ले कवच-कुंडल उड़े रथ पर, उड़ाए धूल;
पर रहा है पुण्य के विपरीत जो कुछ
काल भी उस पाप के होता कहाँ अनुकूल ?

''फँस गया था रथ जरा ही दूर जाकर,
वह भी सूखी रेत के ही बीच रथ का चक्र;
देवपति ने रथ घुमाया सोचकर कुछ
हो गई थी नियति निश्चित, काल भी था वक्र ।

''आ गए फिर कर्ण के सम्मुख मलिन-सा,
गिड़गिड़ाए, 'कह नहीं सकता किया जो पाप;
यह अकेले भोगना होगा मुझे ही,
कौन लेता है किसी के सर चढ़ा अभिशाप ।

'कर्ण, तुम-सा कौन दानी सृष्टि-भर में,
दीन पर इतने दयालु यह जगत विख्यात;
दे रहा वज्रास्त्र यह स्वीकार करना,
पाप से कुछ मुक्ति मिल जाएगी मुझको स्यात ।'

''और तत्क्षण फिर उसी रथ से हवा में,
खो गए थे छोड़ पीछे काँपते दिक्काल ।
कुछ नहीं मैं समझ पाता हूँ अवश-सा,
किस विधाता की रची है कूटनीति-चाल ।

''सामने खोले हुए है समर, भैरव,
नाचता है सौ पगों से नाश का वैताल;
हाथ में ज्वालामुखी को धर उड़ाता,
बिजलियाँ, बादल, प्रलय को, क्रोध में है काल ।''

चू गये कुछ स्वेद कण थे भाल-भ्रू से,
झुरझुरी-सी कुछ उठी थी देह में तत्काल;
पटपटाए थे अधर; निःशब्द अधिरथ,
देख यह धनवंतरी बोले हटाकर जाल—

''हाँ सुना मैंने भी है जो युद्ध सम्मुख,
चल पड़े हैं कर्ण के बेटे सभी ही सात;
जो नहीं है, साथ तो वृसषेन केवल...
वाह अधिरथ! हस्तिपुर पहुँचे तो पहुँचा प्रात।''

रथ धरा से सट गया, है नाद गूँजा,
रेत की आँधी उड़ी, फिर जम गई, सब शांत;
आ गए अधिरथ लिए धनवंतरी को,
है जहाँ पर कर्ण; घेरे आग को ज्यों ध्वान्त ।

ज्यों मिली आँखें, खिले शतदल कमल के,
मानसर के वक्ष पर मकरंद का है नृत्य;
बूँद भर जल पापहरणी का, असर यह
दिख रहा मंदार के औषध का अद्‌भुत कृत्य ।

कर नमन धनवंतरी को, तात को भी,
ले लिया वज्रास्त्र कर में कर्ण ने, असि-धार;
एक क्षण देखा उसे भरपूर आँखों से,
तौलता हो कौरवों की जीत का ही भार ।

स्वर्ण-गिरी-सा कर्ण का है अंग शोभित,
ज्यों तमस को चीर कर उठता अमा का भोर;
कौरवों के मोद की सीमा नहीं है,
हास का, उल्लास का, अभिनव उठा है शोर ।

ढोल, तुरही, झाल, झांझर पर नगाड़े,
गूँजते हैं शंख; जैसे, हों विजय के नाद;
हर्ष उठकर छा रहा है जब गगन पर
हस्तिपुर में ही कहीं है घिर रहा अवसाद ।

प्राणदान पर्व
(सर्ग उन्नीस)

जितनी रात सघन है काली, उतना ही अवसाद,
घूम रहा शंका-चिंता को अपने सर पर लाद;
नदियों की साँसे तक चुप हैं, ज्यों समीर है शान्त,
ज्यों समाधि में डूबा, सबसे अलग-थलग हो प्रान्त ।

लेकिन नींद कहाँ कुन्ती को, जड़-सी, कभी अधीर,
भाग्य बाँचता पिंजर से है, बँधा भाग्य का कीर ।
अभी-अभी उसने जो देखा, करता है भयभीत,
उग्र ताप से पिघल रहा है पत्थर बन नवनीत ।

दुर्ग-शिखर पर संध्या में लड़ते आपस में काग
क्यों मशाल भी लगती लाक्षागृह की धधकी आग ?
केशव किससे बचा रहे हैं अर्जुन को हर बार ?
किसके वाणों की यह वृष्टि, ज्यों पावक की धार!

विचर रहा है सिंह अभय बन, हिरण बने भयभीत,
भय से भैरव बने हुए हैं सारे कोमल गीत ।
देखा कुन्ती ने रजनी की आँखें टुह-टुह लाल,
वामर लेकर नाच रहा है आँगन में ही काल ।

सिहरी देह, मुँदी आँखें, पर चिंताएँ हैं शेष,
घेर रही है भीति आज कुछ दारुण बहुत विशेष ।
उठी, महल से बाहर आई, खोल दुर्ग का द्वार,
कौन रोकता ? द्वारपाल क्या ? दिक्पति तक लाचार ।

बाहर आई जा पहुँची वह फिर गंगा के घाट
अंगदेश के महाबली का लगी जोगने बाट;
प्रकृति सन्न थी देख समय से पहले उठता भोर,
अरुणाई से भीग रहा है गंगा का हर छोर ।

शीश झुकाकर रही सिहरती कुन्ती सुधि में लीन,
दृष्टि उठी तो देखा रवि है लहरों पर आसीन,
और पूर्व की ओर मुँह किए नत है रविसुत शांत,
लेकिन अब भी सूर्यमंत्र से गूँज रहा है प्रान्त ।

देखा जो अपने सुत को तो हुई भाव में लीन,
भूत, भविष्यत, हानि-लाभ के सब भावों से हीन;
''कर्ण तुम्हारी मैं ही माँ हूँ'' उसकी हृदय पुकार,
बार-बार दुहरा जाती है गंगा की जलधार ।

फिर तो नभ क्या, सभी दिशाओं से बस यही पुकार,
उमड़ पड़ा रविसुत के मन में माँ का गाढ़ा प्यार ।
छाया ही देखी थी माँ की, वही आज साकार,
उतर पड़ा मन अनचोके ही, धरे भाव सुकुमार—

''माँ तुम सचमुच यहाँ मिलोगी, मुझे नहीं था भान''
''झूठ नहीं बोलूँगी बेटा सम्मुख हैं भगवान ।
मेरे प्राणों की पुकार पर मुझे मिले तुम दान,
उस क्षण अपने घर-समाज से सचमुच रही अजान ।

''भय ने घेरा मन को तो बस दूर रहा अनुराग,
एक भयावह चिंता ही थी रही कुक्षि में जाग ।
नौ माहों तक रही काल की मुट्ठी में मैं बंद,
आखिर तुमको छीन ले गया मुझसे मेरा द्वन्द्व ।''

''अब नारी का शक्ति-तेज का मुझमें खुला प्रकाश,
चाह रही हूँ अपने ही तो हिस्से का आकाश ।'
कहते-कहते भीग गई आँसू से कुन्ती-देह,
खुला हुआ है पलकों से आँचल तक माँ का स्नेह ।

विचलित हुआ कर्ण, तन सिहरा; कंपित हो लघु शैल,
वर्ण श्याम पड़ गया अचानक, ज्यों विधु पर तम-मैल;
बोला ''माँ तो क्षीर नदी है, नर को है वरदान,
यह जानूँगा मैं तब ही, जब बोलेंगे भगवान ?

''माँ ही सागर, धरा, अग्नि है और पवन-आकाश,
माँ के बिना कहाँ है सृष्टि, गंध, शब्द और प्यास !
पुत्र नहीं वह, इस रहस्य का जिसको ही न ज्ञान,
माँ के ऋण से उऋण हुआ कब नर दे कर सर-दान ?

''माँ ही मोक्ष है इस धरती पर; माँ, तो क्या भगवान,
एक जननि के पुण्य बराबर कोटि-कोटि संतान !
माँ तुमने जो अभी कहा है, सुना गये हैं तात,
छुपी नहीं है मुझसे मेरी जन्मकथा, सब ज्ञात ।

''लेकिन कैसे घर को लौटूँ, बहुत हो गई देर,
मुझसे कौन यही बस कहता, 'पीछे अब मत हेर !
'तुमने स्वयं को दान किया है, तुम कौरव के पात्र,
मित्र सुयोधन को अर्पित है धर्म तुम्हारा क्षात्र ।

'माँ के बाद मित्र का ऋण है, मत भूलो वसुषेन,
अब तो बस कर्त्तव्य चुकाना, कहाँ लेन या देन !
सोचो कर्ण विकट वेला में, कौरव की वह शील,
भरी सभा में जब तुमको अपमान रहा था लील ।

'आकर वहाँ सुयोधन ने ही रखी तुम्हारी लाज,
अब कौरव पर संकट है तो क्या भूलोगे आज ?'
''माँ मुझसे कुछ और माँग लो, और करो आदेश;
कुछ भी कर सकता है माँ हित, पुत्र कर्ण अंगेश ।

''लेकिन क्षमा चाहता हूँ मैं; अगर तुम्हारी साध,
'छोड़ चलूँ कौरव के संग को' होगा यह अपराध,
और नहीं अपराध करूँगा, मन के जो विपरीत,
इस व्याकुल संकल्प-समय में कैसा कोमल गीत ?

''श्रेष्ठ नहीं वह हो सकता है, जिसे मृत्यु की भीति,
उत्तम वही, निभाता जाए जो उदात्त की रीति ।
मुझमें जो कुछ तेजपुंज है, वह तो माँ की देन,
माँ, कुछ ऐसा मत कहना, हो दीप्तिहीन वसुषेन ।

''नहीं जगाओ मुझमें माता, वंश-वर्ण का मोह,
जिस पथ का आरोही हूँ मैं, वहाँ नहीं अवरोह ।
वैसे यह भी मुझे ज्ञात है, जो होगी अब बात,
महासमर में पांडव को क्या छू पायेगा घात ?

''चाहे जो भी हो, लेकिन है पार्थ यहाँ अपवाद,
रण में गूँजेगा उसके हित मेरे धनु का नाद ।
उसने राज्य-विभव-वैभव हित जो भी किया है पाप,
उसे छोड़ सकता है कैसे मेरा खुलता शाप !

''इतने-इतने लोगों की हत्याएँ, जो निर्दोष,
सजा रखे हैं तीरों से मैंने तरकश का कोष ।
क्षमा चाहता हूँ अम्बे मैं, लगी अगर हो चोट,
मैं अर्जुन-सा नहीं पालता मन में कोई खोट ।

''मेरा जीवन स्वच्छ सलिल-सा, रंगहीन है काँच,
कभी द्विधा से ग्रसित रहा क्या, झूठ कहूँ या साँच ।
सच कहने में चूक हुई न; रुका कभी न दान,
जिसको कभी झुका न पाया कुटिल कोटि अपमान ।

''मुझमें तेज पिता का छाया, माँ की है आशीष,
अर्जुन छोड़, कहो तो कर दूँ अर्पित अपना शीष !
लेकिन क्यों माँगेगी सुत से माँ मेरी कुछ दान,
इसमें कहाँ छुपा है बोलो, माँ का कुछ सम्मान।

''बात-बात में कभी तात से जानी थी यह बात,
अर्जुन जिस दिन आया था सौरीघर में उस रात;
तुमने विधि से वर माँगा था, 'अर्जुन मेरा लाल
ऐसा सृष्टिविजेता निकले, हो अधीन दिक्पाल'

''नभ की ध्वनि-सी गूँजी थी, माँ तेरी हृदय पुकार',
यह भी मैंने सुनी पिता से, जुड़ा हुआ है तार ।
कहा तात ने मुझसे था यह, अब क्या माँ की चाह;
पूरा कर सकता मैं यह भी, इसी जन्म में; आह !

'तुमने मुझको जन्म दिया है, ऋणी मन, मति, यह देह,
जो भी बोल रहा हूँ, माँ, मत करना कुछ संदेह !
सौरीघर की उस पुकार को पूर्ण करूँ की चाह;
कवच और कुण्डल की मैंने जरा न की परवाह ।

''मुझको तो सब बात ज्ञात थी विप्रभेष में कौन ?
फिर भी सब कुछ जान-बूझ कर वहाँ रहा मैं मौन;
सोचा, यही समय है अच्छा, माँ-ऋण का कुछ भार,
सर से उतरे, उतरा भी, माँ यह भी तेरा प्यार ।

''मैं जो कुछ भी कर्म कर रहा, उसमें तेरी चाह,
ऐसा मन से मान रहा हूँ, कौन सुनेगा, आह !
तुमने ही क्या नहीं कहा था केशव से यह बात ?
'भीख माँगने से अच्छा है, कृष्ण, युद्ध में घात ।

'क्षत्रिय अपने बाहुबल से लेते अपना राज,
इसीलिए तो उसे मानता यह समाज भी आज।'
''माँ, मेरी तुम गुरु हुई थी, रख ली मैंने बात,
पांडव सिद्ध करे, कि सचमुच वे क्षत्रिय की जात।

''लेकिन माँ तो माँ होती है, पहले यह नवनीत,
संतानों की रक्षा पहले और बाद में जीत ।
तुम भी पांडव के प्राणों का चाहोगी ही दान,
कुछ भी नहीं छिपाऊँगा मैं, सम्मुख हैं भगवान ।

''तो कहता हूँ, छोड़ पार्थ को नहीं ग्रसेगा काल,
भीम, युधिष्ठिर, नकुल और सहदेव बने दिक्पाल !
स्यात तुम्हारे मन में यह था, मैं अग्रज हूँ ज्येष्ठ,
शक्ति-बुद्धि से सभी भाइयों में भी बढ़कर श्रेष्ठ ।

''इसीलिए पांडव के धन पर मेरा है अधिकार,
क्या न करोगी ? अपने ही सपने पर अत्याचार ?
फलने दो अपने सपने को, इसमें सबका मान,
अब क्या; कवच और कुंडल का कर डाला है दान !

''स्वप्न तुम्हारा पूरा हो, यह ज्येष्ठ पुत्र का धर्म,
माँ की इच्छा रखी नहीं, तो नीच पुत्र का कर्म ।
मुझे ज्ञात है, क्या लाएगा मेरे हित यह युद्ध,
जहाँ धर्म की दृष्टि बँध है, हृदय नहीं है शुद्ध !

''फिर भी मेरा प्रण है, तो है, कहो कहीं कुछ झोल,
अंगदेश के नृप का होता नहीं दूसरा बोल !
जो होगा अब रण में होगा, चिन्ता नहीं विशेष,
महाकाल के प्रलय-नृत्य में और समय कुछ शेष ।

''किसके पास बचा है क्षण भी, जो हो वाद-विवाद,
अब भविष्य के हाथों में ही बंद पड़ा संवाद ।
माँ, जननी तुम पाँच पुत्र की, पुत्र रहेंगे पाँच;
कोई रहे-रहे न लेकिन नहीं पाँच पर आँच ।

''जिस अर्जुन की तुम ही माँ हो, केशव जिसके पास,
समझ नहीं पाता हूँ, मेरी माँ क्यों बने उदास ।
किसी पुरुष को मिले नहीं, माँ, मुझे मिला जो भाग,
अब तक भी वैतालिक-सा ही निशिदिन रहा हूँ जाग ।

''माँ का, गुरु का, मुनि का मुझको कहाँ मिला वह प्यार,
जिसको पाकर पूरा होता है नर का संसार,
और उपेक्षा की छाया में जीवन बीता भ्रान्त,
फिर भी द्वेष-घृणा से हरदम दूर रहा हूँ, शान्त ।

''जब भी अँगुलि उठी किसी की, मुझ पर उठी तड़ाक,
सूर्यपुत्र यह सदा उपेक्षित देखा किया अवाक्,
लेकिन टूटा कभी नहीं, माँ, यह भी तेरा स्नेह,
क्या होता है कवच और कुंडल से खाली देह ।

''मनुज उपेक्षा से हारा, तो हार गया सब दाँव,
जितना जिसको ग्रीष्म तपाती, उतनी उसको छाँव;
विपदा क्या माता से कम है, एक देह, एक रक्त,
जो सच्चा है पूत, रहा है किससे कहाँ विरक्त ?

''विपदा ही प्राणों की आभा, भरती तन में तेज,
मन के भीतर दिव्य गुणों को रखती बहुत सहेज।
मैं कृतज्ञ हूँ बहुत तुम्हारा, मुझे दिया यह रूप,
सागर सारे सूख रहे हैं, भरा हुआ है कूप ।

''मुझको अपने तपने से यह मिला मुझे संदेश,
निर्बल बल को पहचाने, तो पूरा उसका देश ।
माँ, तुमको तो गौरव होगा, तुम्हें मिला वसुषेन,
अर्जुन की यह विपुल ख्याति, तो मेरी ही है देन ।

''मैं ही एक अकेला जिस पर सभी श्रेष्ठ का ध्यान,
और उसी से पार्थ लड़ेगा, यह होगी पहचान;
मुझसे लड़ कर अर्जुन को हो जाने दो विख्यात,
महाबली की पंक्ति में ही दिखे कहीं वह स्यात ।

''सच है, कर्ण नहीं होता, तो कहाँ सुयोधन शूर,
युद्ध ठानता रहता मन से, हारा-चकनाचूर,
और कहाँ तब केशव का वह दिखता रूप विराट ?
जिसे देखकर चकित हुए थे संजय, कुरुसम्राट ।

''माँ, तुमने लहरों पर रखकर मुझे बनाया शक्त,
भाग्य, सिंहासन से भी मैं तो कोषों दूर विरक्त;
लौटूँ मैं किसलिए भला फिर, व्यर्थ मुकुट और मान,
माँ, मैंने दे दिया तुम्हें है अपने मन का दान ।

''कवच और कुंडल से खाली कर्ण लड़ेगा युद्ध,
अब तो मुझ पर एक निमिष तक काल दिखेगा क्रुद्ध ।
माँ हो, इसीलिए कहता हूँ अपने मन की बात,
संतति किसकी शरण लगेगी, अगर डराए रात !

''चाहे जितना बली पुत्र हो, माँ के आगे दीन,
माँ पंचानन है अमृत की, संतति जिसमें मीन;
इसीलिए माँ, तुमसे कहता एक अनूठी बात,
एक भयावह स्वप्न घेरता, दिन हो या फिर रात ।

''आ जाती आँखों के सम्मुख एक बालिका दीन,
घी के गिर जाने से विचलित भय से अधिक मलीन;
''पूछूँ, तो कहती है, 'घी की मिटिया फूटी, हाय,
क्या घर में वह उत्तर देगी, किस मुख से वह जाय ।'

''मैं कहता यह, ला 'देता हूँ भरा हुआ घृतपात्र',
हो जाता है कंपित सुनकर उसका पूरा गात्र;
कहती, 'घी तो वही चाहिए, गई धरा जो सोख,
बहुत हिला जाता है, उसका रोना, उसका शोक ।

''कसता हूँ मुट्ठी में मिट्टी होकर बहुत अधीर,
चू जाए फिर से घृत पूरा, घटे बालिका-पीर,
और तभी आती मुट्ठी से, उठती हुई कराह,
अभिशापित मुझको करती, धरती की कातर—आह ।

'क्या निचोड़ते हो तुम घृत को, या मेरे ही प्राण ?
कर्ण, तुम्हें इस पाप कर्म से नहीं मिलेगा त्राण !
'महायुद्ध के महानाश में भाग्य तुम्हारा वक्र,
धँस जायेगा धरती में ही रथ का गतिमय चक्र ।

'तुमने मेरे प्राण निचोड़े, मेरा यह अभिशाप,
छोड़े नहीं तुम्हारा पीछा किया तुम्हारा पाप ।'
''माँ, सचमुच क्या अग्रवचन यह, जिसके आगे पाठ,
घेर रही है खांडव वन की आग, जहाँ है ठाठ ?

''तो, माँ धरती, गंगा, कुन्ती राधा की सौगंध,
नहीं डरा सकता रविसुत को घोर गहनतम अंध ।
माँ तुमसे मैं नहीं कहूँगा, मुझको दो आशीष,
वेदी पर रख छोड़ा है मैंने अपना यह शीश ।

''आज मिली हो माँ जब मुझसे दशकों-दशकों बाद,
उमड़ पड़े हैं जनम-जनम के दुख-सुख, घोर विषाद ।
सबसे सब कुछ रहा छिपाता, वही अभी निर्बंध,
टूट-टूट कर बिखर रहे हैं, जोड़े सारे छंद ।

''क्या छोड़ूँ, क्या बोलूँ तुमसे, मिलता ओर न छोर,
शोक घेरता है क्यों मुझको, मन जब लगे विभोर;
क्षण-क्षण में क्या होता मुझमें, अनपहचानी बात,
शांत सलिल में कैसी हलचल, कैसा यह संघात !

''यह क्या मुझमें परिवर्त्तन है, पर्वत है नवनीत,
प्रत्यंचा पर चढ़े वाण से फूट रहा है गीत;
बाँहों से जो बँधा गरुड़, हारिल बन खोजे ओट,
उजड़ा-पुजड़ा-सा लगता है चम्पा का ही कोट ।

''माँ के सम्मुख धर पाता हूँ कहाँ तनिक भी धीर,
घेर रहा अवसाद कौन-सा, और कौन-सी पीर ?
लौटो माँ ! अब जाने का दो मुझको भी आदेश,
एक पहर ढल जाने में अब कुछ ही क्षण हैं शेष ।''

पोछ पृथा ने अपने आँसू स्वयं को लिया सम्हाल,
बोली इतना, ''सचमुच तुम ही लाल मेरे हो लाल ।
घोर तमस के बीच पिता के कुल के हो आलोक,
पुण्य कर्म के, दिव्य धर्म के महाशील के ओक !''

रखा कर्ण के माथे पर कुन्ती ने दोनों हाथ,
लौटी; नभ में बढ़े जा रहे दिनकर के ही साथ ।
रुकी हुई गंगा की लहरें पुनः हुईं गतिशील,
सूर्य कमल बन खिला हुआ है; गगन, जमी-सी झील ।
पवन-वृक्ष के रोम-रोम में वंशी के सुर-नाद,
वाद-विवाद सभी हैं मूर्छित, केवल मृदु संवाद ।

कूटनीति पर्व
(सर्ग बीस)

है शिशिर भी शांत; जैसे, भीष्म शर पर,
शीत की लहरें ? समर की सिसकियाँ हैं ?
रक्त-गति अवरुद्ध दिक् की हैं शिराएं,
पसलियाँ हैं पस्त, मूर्छित हैं हवाएं ।

वाण शय्या पर पड़े हैं भीष्म इस्थिर,
दस दिनों तक युद्ध करते पांडवों से;
रात है, आँखें खुलीं हैं, जग रहे हैं,
योगनिद्रा में हो योगी, लग रहे हैं ।

नींद किसको है ? किसी को भी नहीं है,
पांडवों को हर्ष है, दिखता नहीं पर;
कौरवों के शोक की सीमा नहीं है,
किसके लिए यह रात अति भीमा नहीं है ?

कर्ण ढाढस दे रहा है भूपबल को,
प्राण भरता है सुयोधन में वचन से;
नील सर में उग रहे हैं रक्त सरसिज,
मुस्कुराता राख में है जला मनसिज ।

और केशव सोच में डूबे हुये हैं,
"कर्ण सेना का बनेगा पति, है निश्चित;
काल का अगला चरण किस ओर होगा,
यह तो तय है, अब समर घनघोर होगा ।

"जानता हूँ इस समय रविसुत गहन में,
शोक है वृसषेन सुत का, वीर अतुलित;
पर व्यथा को; ज्यों सघन घन को प्रभंजन,
है उड़ाए जा रहा ही कर्ण का मन ।

"गात्र कैसा ? अग्नि जिसको छू न पाए !
हो रहे भूकंप; इस्थिर और पर्वत !
धूमध्वज टकरा रहे हैं; गगन निश्चल !
फट रही ज्वालामुखी, पर सिंधु शीतल !

"कर्ण का जब शंख गूँजेगा समर में,
कौरवों में सिंधु की लहरें उठेंगी,
मृत्यु नाचेगी करोड़ों चरण ले कर,
काँप जायेगी धरा, काँपेंगे भूधर ।

"पार्थ ! यह राधेय, वैकर्त्तन, विजयधर
दानसुर ही क्या, वृषा, वसुषेन, रविसुत,
अंगभूपति, अधिरथी, राधेय भी है"
और मन में ही कहा, "कौन्तेय भी है ।

"यह कोई जाने न जाने, जानता हूँ,
वर्ष तेरह किस तरह से हैं बिताए,
जब रहे वनवास में छुपते युधिष्ठिर,
कर्ण-भय से रह सके क्या कभी इस्थिर ?

''कर्ण का बल, कर्ण का रथ, कर्ण-आयुध,
पांडवों का तेज ठहरेगा कहाँ पर !
पार्थ यह तो कौरवों का कृष्ण ही है,
बात कुछ भी हो कहीं से; एक आशय ।

''यह नहीं है भीष्म, जिसका मन बँटा हो,
एक तन से, एक मन से कौरवों का;
जब तपेगा जेठ का सूरज शिखर पर,
क्षुब्ध बेहद हो उठेंगे व्योम-सागर ।

''जल उठेगा बादलों का राज्य धू-धू,
उड़ चलेंगे रेत बन कर भीम पर्वत;
क्या सहज वसुषेन-रथ को रोकना है ?
यह तो जैसे रुद्र को ही टोकना है ।

''अब समर में जो घटेगा, वह अघट है,
नीति-नय की भूमि से कुछ अलग हटकर;
द्रोण की माया सिमटने को बची अब,
शोक की काया सिमटने को बची अब ।

''यह निशा जो घिर गई है, अंत है क्या ?''
सोच कर यह मन-ही-मन हैं कृष्ण व्याकुल;
कुछ कहे, पर क्या कहे, यूं भ्रांत मन है,
सिर्फ शंकाएं नहीं हैं, भय सघन है ।

देख कर यूँ मौन केशव को कहा था,
पार्थ ने कुछ उल्लसित होते हुए से;
''अब रहा क्या भय, पितामह दूर पथ से,
युद्ध कुचला जायेगा, अब पार्थ-रथ से ।

''कौन है गांडीव के अब सामने में ?
है अगर कोई; समझिए मृत्यु निश्चित;
या सताती है पितामह की ही हालत ?
तीर-शय्या पर पड़े हैं दीन-आरत ।''

सुन धनंजय की ये बातें मौन टूटा,
फड़फड़ाया वृक्ष पर हो कोई सारस;
ज्यों, उठा आलोक हो तम को हटा कर,
कृष्ण बोले, पार्थ को अनुकूल पाकर—

''पार्थ, जो कुछ कर गए हैं भीष्म वह तो,
भूलना होगा कठिन, मेरे लिए वह;
अस्त्र को आखिर उठाना ही पड़ा जब
पर यहाँ तो और भी संकट बढ़ा जब ।

''कर्ण सेनापति बनेगा शीघ्र समझो,
कर्ण, जो नर रूप में हिम शैल ही है,
पत्थरों की भार से वह क्या हिलेगा,
सूर्य बरसेगा, तो क्या सरसिज खिलेगा ?

'पार्थ, तुमने क्या नहीं देखा तपनसुत
तीर पर सोए पितामह से मिला जब;
था श्रद्धानत, शांत गौरव से भरा था,
तब पितामह ने कहा था वच् डरा-सा—

'कर्ण, तुम चाहो तो रुक सकता समर यह,
और सारे रास्ते हैं बंद अब तो;
तुम तनय कुंती के, अग्रज पांडवों के
कृष्ण बनकर क्या मिलेगा, कौरवों के ?''

जब कहा था कृष्ण ने कुंती कथा को,
कर लिया था स्वर बहुत ही कंठ के नीचें,
फिर कहा, ''तब देवव्रत ने यह कहा था,
'कह रहा जो अनकहा अब तक रहा था,

'रवि तनय तुम, व्यास तक को यह पता है,
सूत कहकर पर तुम्हारा जी दुखाया;
क्या कहूँ, यह बात अब कितनी सताए,
विस्मृति ले घेर, मति ये डूब जाए !'

''सुन कहा था कर्ण ने यह, 'हे पितामह,
वीरता का वंश-कुल क्या, जात कैसी ?
दान ही तो धर्म मेरा, वंश मेरा,
हे पितामह, और फिर क्या अंश मेरा !

'दे दिया है दान जीवन कौरवों को,
अब कहाँ इस पर मेरा अधिकार कुछ भी;
मैं सुयोधन के लिए रण को समर्पित,
और सारे लोभ सुख के बंद, वर्जित ।'

''फिर झुकाकर शीश लौटा था शिविर को,
शांत जलनिधि-वेग को सारे समेटे;
कल उठेगी ज्वार रण में पूर्णिमा की ?
आज छायी कालिमा कैसी अमा की!

''यह सही है, अब पितामह-भय नहीं है
और जयद्रथ की हुई है शेष गाथा;
बर्बरिक भी दूर पथ से, चित्र भर है,
पर नहीं समझो कि निष्कंटक समर है ।

''मानता हूँ, अब श्रवा का भय नहीं है,
सब किया मैंने उचित-अनुचित न माना,
पर समर में कर्ण जब होगा उपस्थित,
व्योम छूता क्रुद्ध सागर घोर गर्जित ।

''कर्ण का बल जेठ का फैला दिवस है,
मत समझना, यह शिशिर की धूप के दिन;
शक्ति इसकी सिंधु में ज्वालामुखी है,
शिवधनुष में डोर बनकर बासुकी है ।

''मोह पीड़ित जब हुए थे पार्थ तुम ही,
वह नहीं था मोह, भय था कर्ण का ही;
ज्ञान गीता का मुझे देना पड़ा था,
तब कहीं नेपथ्य में रविसुत खड़ा था ।

''हो बहुत ही वीर, लेकिन कर्ण जैसा
दूसरा देखा नहीं, जो सच कहूँ तो;
पार्थ, यह जो कर्ण है, मत भूप समझो !
शील के सौन्दर्य का प्रतिरूप समझो !

''जब पितामह बाद आया रणविजय को,
क्या कहा, 'है कौन सेनापति से कम जो ?
पर यहाँ वय-ज्ञान में गुरु द्रोण केवल,
मान सेनापति उन्हीं को पाएं संबल !'

''दूसरा होता तो क्या कहता, पता है,
और उसके ही लिए जिसने हमेशा,
सूत कहकर कर्ण के जी को जलाया,
कर्ण ने गुरुमान को मन से निभाया !

''किस तरह से मुग्ध होता है समर में,
देख कर गुरु-रण-कला को, क्षिप्र भेदन;
नेत्र कर लेता है पल भर बंद, सुख से,
सामने के संकटों से हो विमुख-से ।

''शील में या शूरता में वह अकेला,
कर्ण का कोई नहीं है जोड़, भू पर,
धर्मरथआरूढ़ अंगपति वीर रविसुत,
कौन उसका हो सहायक, वह तो अच्युत !

''पार्थ यह भूलो नहीं कि कौरवों का
आज या कल, जय-अजय बस कर्ण ही है,
जिस तरह मैं पांडवों का प्राण-आश्रय;
यह समर तो कर्ण-केशव का ही निश्चय ।

''हूँ बहुत अभिभूत रविसुत धर्म से मैं,
अंग के इस पूत, दानी का सुयश तो
धर्म भी गुणगान करता मुक्त मन से;
क्या सुनी तुमने प्रशंसा है गगन से ?

''शांत होकर चित्त को ऊपर उठाओ,
घन गरजते कुछ कहेंगे कान में फिर;
'कर्ण से तो दान का है धर्म शोभित,
स्वर्ग से पाताल तक का लोक गर्वित ।'

''याद है, ली थी परीक्षा विप्र बनकर ?
साथ तुम थे, घोर वर्षा का समय था;
काठ सूखे जब युधिष्ठिर से मिले न,
धर्म के सरसिज वहाँ पर भी खिले न;

"जाँचने तब कर्ण के ही द्वार आये,
काठ सूखे ही कहाँ थे, था सताहा;
लौटने को ज्यों हुआ, तो कर्ण बोला—
'विप्र रुकिए !' और चन्दन द्वार खोला ।

"काट डाला था उसे असि-धार से ही,
फिर कहा था, 'लकड़ियाँ सूखी हुई हैं,
तात, हो स्वीकार, यह उपकार होगा,
कुल मिलाकर धर्म का उद्धार होगा!'

"पार्थ, ऐसा धर्म का पालक कहाँ है !
स्वर्ग भी अति दीन है वसुषेन सम्मुख;
धर्म जिसका कवच-कुण्डल; दीन होगा !
वह समर में क्या कभी बलहीन होगा !

"पर समर से इसलिये क्या हट चलेंगे ?
एक क्या, प्रणभंग होंगे सौ, तो होंगे !
मैं बँधा जिन आँसुओं की डोर से हूँ,
कर रहा सबकुछ वही, जिस ओर से हूँ ।

"तब बहुत बचकर हमें चलना पड़ेगा,
कुछ हुई जो भूल, जय है कौरवों की;
चूक थोड़ी-सी हुई कि हार पर हम,
जो कहूँ, वैसा ही करना; धार पर हम।

"यह उमड़ती कौरवों की भीमसेना,
जब हटा भगदत्त, तो अब भय कहाँ है;
सुर-असुर की शक्ति का भगदत्त विक्रम !
घेर कर कैसे खड़ा था घोर विभ्रम ।

''अब कहीं कुछ भी नहीं है, कर्ण है बस,
काल, ज्यों कालेय पर ही नाचता-सा;
रोकना होगा ही घूर्णित वेग को अब,
पांडवों के सहमे मन, उद्वेग को अब ।

''आ गया है जब घटुत्कच, भय कहाँ है,
कर्ण कैसे रख सकेगा शक्ति देखें !
मृत्यु पर जब मृत्यु टूटेगी भयानक,
काल तक अनुकूल देखोगे अचानक ।

''पर सतत रहना पड़ेगा बहुत चौकस,
इस तरह कि कर्ण-कौशल दिख सके न;
जिस तरह से हो, लगे वह हीन सबसे,
बस यही कोशिश करें हम, आज, अबसे ।

''जब बजाए कर्ण अपने शंख को तो,
पांडवों के शंख गूँजे घोर घन-से;
इस तरह से कौरवों में भीत होगी,
जो हुआ यह, समझो पहली जीत होगी !

''किस तरह से हीन उसको है दिखाना,
शल्य भी यह जानता है, क्या करेगा;
सारथी बनकर हरेगा कर्ण का बल,
जीत का यह भी बहुत आसान संबल ।

''कर्ण के सम्मुख करेंगे अस्त्र क्या कुछ,
यह महाभारत टिका जिस नीति पर है;
नीति वह ही काम आयेगी समय पर,
कर्ण के रहते कठिन समझो विजय पर ।

''वैसे यह भी सोचता हूँ, क्या विजय यह,
धर्मसुत को बेध कर क्या धर्म होगा ?
क्या कहूँगा अंग की व्याकुल प्रजा से ?
धर्म का संकेत, उस उज्जवल ध्वजा से ?

''कर्ण ने मुझसे कहा था, जब मिले थे,
हम सभा से दूर रथ पर बात करते—
'कह नहीं सकता कि रण में क्या लिखा है,
पर कभी वह भ्रमित करता, जो दिखा है !

'देह है तो नष्ट होगी आज न कल,
नभ, सलिल, रज, वायु, पावक का खिलौना;
काल का शिशु तोड़ जाए, कब न जाने,
रश्मियों का लोक आए मन उठाने ।

'तब निवेदन है यही, सुनिये, नरोत्तम,
अंग भू पर ज्येष्ठ है जो गौर उन्नत;
जिस अचल को छू बहा करती है चानन,
भूमि उसकी हरि-हथेली-सी ही पावन ।

'अंग की कुलदेवि की जो शयन-शय्या,
खेलती-गाती है झूमर दिन पहर भर,
आग मन की, रक्त उसमें ही समाये,
पंचभूतों की ये माया लौट जाए !'

हो गये थे मौन केशव यह सुनाकर
पार्थ कहना चाहता कुछ था, तभी ही,
मौन रहने का किया संकेत दृग से,
नील नभ-सा दिख रहे केशव, अडिग से ।

घिर गई थी रात कालिख को समेटे,
जुगनुएं, जैसे, मशालें तम-शिविर में;
शांत है वातावरण, उठता प्रभंजन,
है शिला-सी देह, लेकिन चित्त खंजन !

उड़ रहे संकेत के संग भ्राँतियाँ हैं
कौरवों के, पांडवों के भी शिविर में;
बुद्धि-मन से और सारी इन्द्रियों से,
लड़ रहे हैं कर्ण-केशव आँधियों से ।

घटुत्कच पर्व
(सर्ग इक्कीस)

शिविर में हर्ष का उन्माद अद्‌भुत शीर्ष पर है,
ठहाकों का उमड़ता बेतहासा नाद खलखल;
विजय को देखते कौरव निकट से इस तरह से
विपक्षी पिस रहे हों पाँव से, उनके ही पदतल ।

''उठे हैं जिस तरह से द्रोण क्रोधित अस्त्र लेकर
उठेंगे पांडवों के प्राण निश्चित ही समर में;
घटुत्कच बच सकेगा मृत्युमुख से यह असंभव
हुआ है द्रोणसुत से बिद्ध, तो समझो अधर में ।

''समर में वीर विक्रम शिवि तलक मारा गया है,
बचा बस कील जैसा पांडवों में पार्थ केवल;
युधिष्ठिर-भीम का, सहदेव का कुछ भय नहीं है,
जहाँ पर कौरवों को प्राप्त हर क्षण कर्ण-संबल ।

''बचा पायेंगे केशव पार्थ को कैसे ? असंभव!
यही तो देखना है इस समर में अब हमें यह;
नहीं अब बात वश की इन्द्र के भी, जानते सब''
बहुत खुश हो रहे कौरव है आपस में ये कह-कह ।

नहीं पर कर्ण को कुछ हर्ष छूता है तनिक भी,
शिविर से दूर हट कर सोच में कुछ शांत इस्थिर;
कहीं कुछ ढूँढता-सा दूर क्षिति के पार नभ पर,
हटाता मन वहाँ से, पर वहीं पर चित्त फिर-फिर ।

सुयोधन देख कर यह सब बहुत विचलित हुआ, तो
कहा, ''अब क्या हुआ जो मित्र यूं गुमसुम बने हो ?
तुम्हारी वाण-वर्षा से समर के प्राण थरथर,
यहाँ तुम सोच के पंकज बने, कीचड़ सने हो ।

''उधर गुरु द्रोण के शर का प्रभंजन, जो कि देखा,
इधर तुमसे बरसता नील नभ से काल का घन;
छुपा क्या रह सका था उस समय में कृष्ण-भय भी,
कसा जब जा रहा था तुमसे कस कर काल-बंधन।

''कहो, अब इस समय कैसी उदासी छा रही यह ?
किसी की बात से मन ही तुम्हारा डर गया क्या ?
कहीं कुछ शल्य ने ही कह दिया क्या, दुष्ट मन के ?
बताओ, अब विजय के द्वार पर संकट नया क्या ?

''धरा के गर्भ में कैसी ये हलचल हो रही है ?
हिमालय हिल रहा, हूँ देखता, अपनी जगह पर;
अचानक क्या हुआ, इस्थिर पवन है साँस रोके ?
सलेटी शांति तम को बुन रही नभ की सतह पर ।''

सुयोधन की सुनी बातें तो किंचित मुस्कुरा कर,
लगा कुछ इस तरह कहने वहीं उसको बिठाकर ।
जरा-सा शून्य में कुछ देखता-पढ़ता हुआ सा,
कभी तो हाथ नीचे कर, कभी ऊपर उठा कर—

''नहीं कुछ भी नहीं है बात ऐसी जो बताऊँ,
जरा-सी बात थी मन में जगी, पर बात ही थी,
उठी थी भोर में जो घेर कर तम रात काली,
नहीं था भोर, मेरे मित्र, वह तो रात ही थी ।

''गिरा जब द्रोणसुत के क्षिप्र शर से था घटुत्कच,
भयंकर नाद करता लौहरथ पर, गिरि गिरा हो,
सुना, तो काँप मेरा मन गया था एक क्षण को,
भले अब तक हिडिम्बा-सुत बचा या अधमरा हो ।

''बहुत विक्रम बली, जो मित्र मेरे पुत्र का है,
विपक्षी है, उसे सुत की तरह ही मानता हूँ;
नहीं कुछ छल-कपट उसके हृदय में ही रहा है,
उसे मैं जन्म से ही, सच कहूँ, पहचानता हूँ ।

''हिडिम्बा शक्ति की आराधिका है, ज्ञात सबको
चढ़ाया यह गया है बेदी पर; ज्यों, भेंट रण को;
तमस में खोजता है अब घटुत्कच हो अकेले,
न जाने कौन-सी खोई विरल धूमिल किरण को !

''सुयोधन मित्र मेरे, सोचता हूँ, सच कहूँ मैं,
जिसे भी जो मिला इस युद्ध में हो, पूर्व को क्या ?
यहाँ तो अंग से लेकर मगध तक रक्त लथपथ,
कहाँ कुछ पा सका यश-मान, बस खोया-ही-खोया ।

''बचा है कौन-सा भूभाग पूरब का, कहो तो,
लहू से अंग ही क्या, रक्त रंजित है कलिंग तक;
अंधेरे में भटकते शावकों पर हिंस्र पशु की
लगी हो आग जंगल में ही, ऐसी, आँखें भक-भक ।

''पिरामिद शूरमाओं का लगा था आज भारत,
मुझे डर है, कहीं भारत में ऐसा हो न जाए;
दिवस का दीपता सूरज उठा यह तमतमाता,
सदा के वास्ते ही यह तमस में खो न जाए !

''नहीं यह बात केवल पूर्व की है, मित्र मेरे,
यहाँ तो मध्य से पश्चिम क्षितिज तक रक्त लथपथ;
भयानक लग रही हैं डाकिनी-सी सब दिशाएं,
गगन या वारि, वायु, भूमि, पावक, कौन संयत ?

''हुआ है जिस तरह से रिक्त भारत शूरबल से,
बनेगा कौन रक्षक संकटों में ? देवता क्या ?
मिला जो पुण्य बल से तेज, हमसे छुट रहा है,
पता जिसका नहीं अब तक चला, उसका पता क्या ?

''पड़ा था क्या, अगर जो राज आधा बाँट देते,
रही हैं भूमि किसकी किन युगों में क्रीत दासी ?
शवों के राज पर ही मित्र क्या शासन करोगे ?
सिंहासन, राजसत्ता, राजभोगों के विलासी ।

''पुते सिन्दूर, फूटी चूड़ियों, सित माँग दपदप।
सजाया जा रहा कुरुराज में यह लोक कैसा ?
भला क्यों पूछते हो मित्र मुझसे, मैं दुखी क्यों ?
घड़ी जब हर्ष का हो, ये घुमड़ता शोक कैसा ?

''अगर था बैर मुझको, पार्थ से था, जानते हो,
नहीं विध्वंश ऐसा लोक का मैं चाहता था;
कहीं कुछ चूक तो मुझसे हुई है, मानता हूँ,
धरा नृपहीन होगी इस तरह से, क्या पता था ।

''युगों के अनुभवों का कोष अपने साथ भी था,
सभी कुछ छिन गये हैं; क्या बचा है, इस समर में ?
किशोरों के लहू की चीख आती है, सुनो तो
दिशाएं चीर कर के बेतहासा आज घर में ।

''मुझे अभिमन्यु के मरने का जानो दुख बहुत है,
मुझे है शोक अपने, जो मरे हैं, सात सुत का;
मरेगा भीमसुत ही, तो नहीं क्या क्लेश होगा ?
छुटेगा क्या कभी मुझको लगा ये पाप छुतका !

''सुनो, जब दिक्विजय को मैं चला था सैन्यबल ले
समर्पित हो रहे थे देश-द्वीपों के प्रजापति;
उठा था भाव यह मेरे हृदय में, मित्र, तब भी,
सभी हो एक शासन में बँधे, तो हर्ज क्या क्षति !

''बराबर में विभाजित हो सभी सुख, दुख तलक भी,
सभी का देश भारत हो, न शासक और शासित;
नहीं वह मर सका है भाव मेरा आज तक भी
नहीं मैं चाहता अपना ये भारत हो विभाजित ।

''हमारा पूर्व, पश्चिम, और उत्तर और दक्षिण
बने यह सिंधु-सा विस्तृत, कहीं पर रोक न हो;
हिमालय-सा उठा हो शीष, अम्बर की सतह तक,
कभी भी दीप्त इसके भाल पर कुछ शोक न हो ।

''उठे इसके हृदय में पुण्य, तो सुरलोक पहुँचे,
मिलेगी मुक्ति सुर को, मुक्त भारत मंत्र बाँटे;
नहीं यह हो सका, कुछ सोच कर ही चुप रहा था,
उसी का यह अंधेरा है, उसे अब कौन छाँटे !

''कहीं तुम भूल करते जा रहे हो' कौन कहता,
तुम्हें थी जिद, तुम्हारा सोच दुर्गम दुर्ग जैसा;
इसीसे कुछ नहीं बोला कभी भी, भूल थी यह,
कहाँ है लोकहित में आत्मकेन्द्रित सोच ऐसा ?

''सभी कुछ देख कर भी, कुछ दिखाई क्यों न देता ?
लड़ाए जा रहे हैं, लड़ रहे हैं प्रेत केवल;
कहाँ थी खोज अमृत की, कहाँ तो रक्त लथपथ,
तृषा के नाम पर क्या मिल रहा है ? रेत केवल ।

''हिडिम्बापुत्र की बलि भी निकट है, जानता हूँ,
मरेगा काल के हाथों से यह भी, पूर्व निश्चित;
कहूँ क्या, सोच कर इस बात को ही मैं व्यथित हूँ,
नहीं ऐसा हुआ था, पर हृदय है आज विचलित ।''

सुयोधन ने सुना सबकुछ उठा आवेग धो कर,
लगा कहने हृदय की बात धीरे शांत होकर—
''उजाला किस तरह का सौंपना तुम चाहते हो,
भुरकवा की घड़ी में इस तरह से ध्वांत होकर ?

''क्रिया का जब समय है, सोच में डूबे हुए हो,
तुम्हें क्या हो रहा है आज यह, वसुषेन सँभलो !
तमस से पूर्ण अब दुर्जय भयावह क्षण निकट है,
कहीं यह ग्रास न ले कौरवों को, कर्ण निकलो !

''तुम्हारे तेज से पांडव मलिन, आश्चर्य क्या है,
अचंभे में पड़ा है कृष्ण, ऐसा था न विचलित;
मुदा यह काल बनकर जो हिडिम्बासुत खड़ा है,
उसे करना तुम्हें ही कर्ण, अब तो काल कवलित ।

''नहीं देखा कि कैसे कौरवों पर टूटता था,
कभी पर्वत, कभी तो इन्द्र का ही वज्र बन कर;
अभी न अग्निसुर की आग वह ठंडी हुई है
हिडिम्बापुत्र को सोचे बिना उसमें हवन कर !

''नहीं तो यह असुर भी सिद्ध होगा अग्निऋषि ही,
हमें पांडव समझ कर खाकेगा वह क्रोध में आ,
जला डालेगा, जैसा लग रहा है देख यह सब,
हटा कर सोच-चिंता, कर्ण, अब तो बोध में आ !''

सुना जो नाम खांडव का, तुरत ऐसा लगा था,
लगी हो आग काया में, धधकती, कर्ण के ही,
तुरत लौटा था अपने चेत में मुट्ठी कड़ा कर,
अभी तक लग रहा था जो सबों में ही विदेही ।

कहा, ''क्या बोलते हो, मित्र मेरे, अब रुको भी,
अभी भी आग खांडव की लपटती, है बुझी क्या ?
सभी हैं पार्थ, जो भी पार्थ के संग में खड़े हैं,
उठीं सौ आँधियाँ लेकिन कभी गर्दन झुकी क्या ?

''भले ही व्योम के ऊपर उड़े वह क्यों न पर्वत,
विजय पर तीर छूटेगा, दिखेगा रेत बनते,
अभी देखा नहीं है भीमसुत ने क्रोध मेरा,
दिवाकरसुत-कला के इन्द्रधनु को प्रेत बनते ।

''अलम्बुस को गिराया, तो गिराया, क्या गिराया ?
गिरा कैसे सकेगा छल-कपट से अस्त्र मेरा ?
उगा जब तक नहीं है भोर लेकर रश्मि-आलय
तभी तक व्योम-भू पर है लगा तमतोम-फेरा ।

''मुझे तो लग रहा है अब हिडिम्बासुत समर में
नहीं आया समर में है पिता की हाँक सुन कर;
मृत्यु की बीन के वश में यहाँ तक आ गया है,
वही होगा, चला हो लाख वह घर से शकुन कर ।

''न जाने सुधि कहाँ से आ गई मुझको अभी ही
हिडिम्बापुत्र का वह पाप अनजाने अचानक;
किया अपकर्म जो है इस बली ने, है कलंकी,
छिपा सकता नहीं इस पातकी का घोर पातक ।

''मिली जो वत्सला थी पार्थसुत अभिमन्यु को ही,
सुयोधनपुत्र लक्ष्मण को नहीं, तो छल नहीं था ?
निभाई भूमिका थी इस हिडिम्बापुत्र ने ही,
किसी भी वीर नर-सुर की कला का बल नहीं था ।

''हृदय के पुष्प को जिसने मरोड़ा क्रूर कर से,
वधिक के कर्म से ही कर्म यह जिसका जुड़ा है;
तनय यह भीम मुझको लग रहा है पार्थ-सा ही,
अभी कौरव के हित में पांडवों के संग खड़ा है ।

''हृदय के राग का बैरी घटुत्कच प्राणहंता,
मरेगा अब समर में नीच अपने कर्म कारण;
बचा पायेंगे केशव याकि पांडव, यह असंभव,
निकट है काल उसका, मृत्यु सर पर। क्या निवारण ?

''नहीं पाई विजय ने इस पतित पर जो विजय तो,
रखा है अस्त्र सुरपति का संजोया-सा अभी भी;
खड़ा जो लक्ष्य के आगे मिलेगा, काल तक भी,
किसी पर टूट सकता है प्रलय-सा यह कभी भी ।

''नहीं सोचा कभी इसने जरा भी मातृहित में
हिडिम्बा के प्रणय को दान में ही क्या मिला था;
भले ही पुत्र उसको मिल गया था यह घटुत्कच
वरण की बात पर किसका जरा भी मन हिला था ?

''कहाँ स्वीकार माता को हुआ था ब्याह ऐसा ?
कहाँ घर ले गया था मान से ही भीम उसको ?
सभी विस्मृत किए हैं पुत्र उसका यह घटुत्कच,
प्रणय के साथ छल था, भूल पाया मैं न जिसको ।

''जिसे दुख ही नहीं कुल-वंश के अपमान तक का,
जिसे माँ की व्यथा का एक टुक भी दुख नहीं हो ।
हमारे दीप्त भारत की कथा का अंश कैसा ?
पतित जो शौर्य है, वह तो कभी आमुख नहीं हो !

''बली है पार्थ से बढ़कर घटुत्कच, हो विदित यह,
नहीं है ज्ञान इसका कम किसी से, यह न समझो;
धुआँ, बादल, अनल, वायु-सृजन में दक्ष है यह,
कला अद्‌भुत है इसकी हर कला में, और भी जो ।

'यही अच्छा रहेगा अस्त्र सुरपति का दिया जो,
असुरपति को सुलाने में ही क्यों न यह खपा दूँ;
पड़ा जो बोझ मन पर है लिया उपकार-सा ही,
हटाऊँ जब समर से उसको, इसको भी हटा दूँ ।

''कहाँ मैं चाहता था ग्रहण करना इन्द्र-आयुध ?
नहीं जाना कभी भी दान का प्रतिदान होता,
छुपा देता धरा की कोख में या तो गगन में,
तुम्हारा उस समय मन में न आया ध्यान होता ।

''विजय पानी अगर है, तो विजय ही यह अधिक है,
भुजाओं में दहकती-घूमती ये आग लपलप;
शिराओं में समुन्दर शौर्य का हलचल उठाता,
नहीं क्या सुन रहे हो शोर उसका, नाद छपछप ?

''समर में वज्र सुरपति का गिरेगा, तय हुआ यह,
हिडिम्बापुत्र पर ही और कल ही मित्र, निश्चय;
लड़ूँगा पार्थ से निर्द्वन्द्व होकर प्राणपन से,
रहा कुछ भी नहीं कल के लिए अब और संशय ।

''जिसे अपनी भुजाओं का भरोसा ही न होता
वही तो ढूँढता है देव-दानव का सहारा;
मुझे अपनी भुजाओं पर भरोसा, मैं अकेला,
किसी के सामने अपने करों को कब पसारा ?''

रुका, देखा क्षितिज के छोर पर वसुषेन ने कुछ,
तमस के बादलों के बीच उड़ता एक पर्वत;
दिखा वटवृक्ष-सा, जो है गगन को नापता-सा
जिधर से वह गुजरता था वहीं का देश अवनत ।

उड़ाए जा रहा है भूमि पर के दुर्ग सारे,
दिशाएं काँपती थर-थर, गगन पट-सा सिहरता;
प्रलय के काल में ज्यों काल सारी शक्ति लेकर
पवन की छाती पर चढ़ कर दिशाओं में विचरता ।

लगा यूँ कर्ण को, वह आ रहा हो गति उड़ाए,
उसी की ओर ही मतहीन हो मतिभ्रष्ट होकर;
लगाएगा अभी ब्रह्मांड को वह क्रोध में आ
अपरिमित शक्ति लेकर सृष्टि भर की, एक ठोकर ।

हँसा वसुषेन यह सब देख, तत्क्षण फिर सँभल कर,
उठाया हाथ अपना, और फेंका व्योम पर कुछ;
बहुत काँपा क्षितिज, जल, व्योम, पावक और मारुत
लुढ़कता जा रहा है शैल-सा तम तोम पर कुछ ।

सुयोधन कुछ समझ पाया नहीं, सोचा बहुत ही,
उठा, अपने शिविर में मंद गति से लौट आया;
वहाँ जो हर्ष देखा कौरवों का, नाद करता
भला क्या रोकता स्वयं को, सुयोधन भी अघाया।

सुना जैसे सुयोधन ने समर में दूसरे दिन—
मरा है कर्ण के हाथों समर में खल घटुत्कच;
कहा यह हर्ष में, ''कैसे बचेगा पार्थ देखें;
छिपेगा कर्ण के तीरों से कब तक और बच-बच ?

मरा जैसे हिडिम्बासुत, यही सब को लगा, ज्यों,
समर पर हो गई है जीत अब तो कौरवों की;
बदलने लग गई है राशि अपनी बद्ध गतियाँ
सबल कर में कसी हो रास जैसे नवग्रहों की।

मकर पर्व
(सर्ग बाईस)

बढ़ा और हेमंत शिशिर को आगे-आगे करके,
लेकिन दीप्त, चैत में जैसे, अंग-अंग भास्वर के ।
उठा और फिर ठहर गया था सहसा क्षिति पर आकर,
सेनापति के रूप-भेष में वहाँ कर्ण को पाकर ।

दिक्पालों को ज्ञात नहीं है किनकी कौन दिशाएं,
आँखें रोके खड़ी हुई हैं चारो ओर हवाएं ।
सागर में भीषण ज्वारे हैं, एक झलक को पाने,
यमुना की लहरें तब कैसे रोक किसी की माने !

अन्तरिक्ष में जुटी हुई हैं भू की सभी विभाएं,
रण में रविसुत की है कैसी, देखें जरा कलाएं ।
उधर चीर, चानन, बड़ुआ में हलचल है सागर की,
मंद्राचल का शिखर छू रहा सीमा है अंबर की ।

मिलते ही आदेश सुयोधन का कोलाहल भारी,
धेनु-स्वर्ण का दान, विप्र से शुभ-शुभ की तैयारी ।
गूँजे चारण और मगध-जयकार कर्ण की जय में,
रुके हुये हैं चरण काल के जाने किस निश्चय में ।

रणभेरी का नाद उठा, तो गूँजे गगन-दिशाएं,
पर्वत-वृक्ष लगे; अभिनन्दन में ज्यों हाथ हिलाएं ।
एक दिव्य रथ वही खड़ा था, कर्ण तुरत चढ़ आया,
धवल चंद्र-सा शंख उठाकर घन-सा उसे बजाया ।

भरा सृष्टि का विवर गूँज से महाघोष के बल से,
कौरव के दल पुष्कर में दिखते उत्फुल्ल कमल से ।
और स्यंदन पर फहराती उत्तम श्वेत पताका,
रथ के ऊपर जमी पिघलती दिन में ही ज्यों राका ।

श्वेत अश्व हैं जुते हुए; सदगुण की भीड़ जमी हो,
कुछ भी ऐसा वहाँ नहीं था, जिसकी लगी कमी हो ।
श्वेत पताका पर फण काढ़े चिन्ह नाग का अंकित,
खांडव वन के नागवंश की कथा समूची व्यंजित ।

कवच, शक्ति, तरकश से सज्जित, वाण, धनुष, तोमर से,
निकला है ज्यों महाप्रलय ही शून्य विवर के घर से ।
कहा कृष्ण ने, ''पार्थ जरा देखो तो कर्ण-कला को,
व्यूह सैन्य का करता है भयभीत व्योम-अचला को ।

''समरभूमि में आ चंचल हो महामकर ही क्रोधित,
अग्रभाग में कर्ण, नेत्र पर शकुनि-उलूक ज्यों लोहित;
मध्यभाग में अश्वत्थामा, जलता भाल अनल हो,
कंठ-मध्य में दुर्योधन की सेना काल प्रबल हो ।

''वाम चरण में कृतवर्मा की सेना क्या उफनाती,
नारायणी उसी के संग में भय को है थर्राती;
मध्यदेशीय योद्धा का दल पिछला वाम चरण हो,
बड़ा कठिन लगता है, कैसे इसका शक्ति-हरण हो ।

''दक्षिणात्य की सेना दायें, कृपाचार्य भी संग हैं,
चित्रसेन फिर चित्र पूँछ पर । बदले सारे रंग हैं;
महानाश ही निकल पड़ा है, अर्जुन जरा सँभल कर,
इस ज्वाला के सागर में तो लौह भस्म हो गलकर ।

''संसप्तक के साथ दण्ड की, दण्डधान की सेना,
प्रलय-वृष्टि के बीच सिंधु में अपनी तरी है खेना ।
दण्डधार की शक्ति-कथा जगत विदित अच्युत है,
कहो दूसरा कर्ण समर में खड़ा हुआ प्रत्युत है ।

''यह केवल है खेल नियति का या कुछ भेद अलग है,
आज कर्ण के साथ पूर्व का भारत ही लगभग है ।
अंग, बंग ही नहीं, कलिंग भी और पौंड्र उमड़ा है,
आज कर्ण के पीछे-पीछे पूरा मगध खड़ा है ।

''कुछ तो आखिर इसके पीछे बात धनंजय होगी,
आज नहीं कल बोलेंगे ही सच-सच ज्ञानी-योगी ।
सब दोषी हैं, अघी, पातकी, ऐसा कहना छल है,
पार्थ, महाभारत के रण में यह क्यों हृदय विकल है !

''लेकिन अब क्या मंथन-उंथन समय सोच पर भारी,
और कर्ण के सम्मुख अपनी सेना की लाचारी ।
पहले तो इस दण्डधार को रण में चलो सुलाओ,
महाबली भगदत्त कहाँ है, शर पर उसे उठाओ ।

''क्षेमधुर्ति भी बचा हुआ है, अश्वत्थामा ही क्या,
बिन्द और अनुविन्द, दण्ड की घेराबन्दी त्रिज्या;
रथ को उसी ओर ले जाओ, इसमें छुपा कुशल है,
पांचालों पर कर्ण वज्र-सा गिरता काल प्रबल है ।

''अभी सामने होना, यानी संकट निकट बुलाना,
किसी मोह के स्वप्न-व्योम में स्वयं को मत भरमाना !
करो प्रतीक्षा उचित समय की, यही कला है रण की,
जल्दीबाजी हुई अगर तो समझो युक्ति मरण की ।

''कृपाचार्य या भीष्म-द्रोण से अलग कर्ण का मन है,
क्षमाभाव ही जिस दानी का सबसे बढ़ कर धन है ।
समर शुरू होने के दिन ही मैंने यह चाहा था,
अंगदेश के इस रविसुत के मन को तब थाहा था ।

''कहकर यह कि 'जब तक रण में होंगे भीष्म पितामह,
न जाने कितने दिन ठाने लंबा युद्ध भयावह;
तब तक क्या वह बाहर ही बैठेगा लिए प्रतीक्षा ?
टुकुर-टुकुर ताकेगी उसकी रण-कौशल की दीक्षा ?

''क्यों न तब तक पांडव की सेना के ही संग होले;
अभी कर्ण सेनापति होगा, कुछ तो रविसुत बोले;
और पितामह जैसे ही पायेंगे लोक अमर को,
चाहे तो वह लौट चले कौरव के दल में, घर को ।

''लेकिन पार्थ, कहा क्या उसने इसको भी तुम जानो,
धरती के इस धर्मपुरुष की निष्ठा को पहचानो ।
कहा कर्ण ने 'मेरा तन-मन एक सुयोधन के हित,
मुझ पर ही तो उसका है विश्वास सकल अवलंबित ।

'अब तक छोड़ा नहीं साथ तो अब कैसे छोड़ूँगा,
कूद पड़ा है महासमर में । मुँह को मैं मोड़ूँगा ?
धर्म नहीं यह अंगदेश का चाहे जिसका होले,
क्या मंदार डिगेगा कुछ भी, कोई जितना झोले ।

'एक वचन का, एक धर्म का, एक शपथ का रविसुत,
मैं अपनी ही शील-बुद्धि पर जमा रहूँगा अच्युत ।
'मैं युयत्सु तो नहीं, लोभ में इधर-उधर हो जाऊँ,
एक पंथ पर रहा आज तक, अपना धर्म निभाऊँ ।

'नागवंश के वंशज का जो हंता है, कुलघाती,
वनवासी के शांत निलय में कालानल उत्पाती ।
केशव, क्या कहते हैं मुझसे, उसी पक्ष में जाऊँ,
अंगदेश के शील-धर्म को मैं ही यहाँ लजाऊँ ?

'जिसने अपनी मातृभूमि को गौरव मान दिया है,
दया-धर्म के पालन से बलि को सम्मान दिया है।
'पार्थ भले ही मेरा भाई, लेकिन पहले बैरी,
उसको क्या जीने का हक है, जन का क्रूर अहेरी !

'रण में विजय सुयोधन की ही नहीं; आग की होगी,
एक साथ—योगी की ज्वाला; सत्ता का सुखभोगी !
केशव, मेरी नहीं लीजिए, कुछ भी तनिक परीक्षा,
टूटे जिससे वंश-देश की या फिर मेरी दीक्षा ।'

कहते-कहते रुके कृष्ण क्षण आँखें बन्द किए ही,
फिर कहने वह लगे पार्थ से बिन विश्राम लिए ही,
''पार्थ, कर्ण सचमुच में अच्युत, इसको कौन डिगाए,
खड़ा हुआ है शैलराज, क्या अंधड़ इसे हिलाए !

''देखा नहीं, झपट कर कैसे धरा युधिष्ठिर को था,
सूख गया था धर्मराज के प्राणों का ही सोता,
और नकुल तो कोमल-सा पत्ता बन डोल गया था,
इस पर कैसा व्यंग्य कटीला रविसुत बोल गया था ।

''भले तुम्हारे वाण कर्ण के रथ को बहुत ढकेले,
और कर्ण के बाण हमारे तीन हाथ ही ठेले ।
तुम कहते हो, तीन हाथ पर 'वाह-वाह' क्यों बोलूँ ?
रविसुत के ही रण-कौशल पर अपना हृदय उछालूँ ?

''सोचो पार्थ, तुम्हारे रथ का कृष्ण सारथी जब है,
रथ के शीश-शिखर पर बैठा मारुतपूत अलग है;
तब भी कर्ण बाण से रथ को तीन हाथ तक ठेले,
ज्यों अबोध शिशु खेल-खेल में अट्ठा-गोटी खेले ।

''इसीलिए कहता हूँ तुमसे, बच कर रण करना है,
जरा हुई जो चूक, कर्ण के हाथों ही मरना है ।
पार्थ, भले ब्रह्मास्त्र नहीं हो अब तो इस योद्धा को,
लेकिन एक अस्त्र है अब भी हरने हर बाधा को ।

''बहुत यत्न से जुगा रखा है कंचन के तरकश में,
ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो न उसके वश में;
अहिमुख कहने भर को ही यह, महाकाल का मुँह है,
शोणित से रंजित काली की जिह्वा ही टुह-टुह है ।

''जिस पर छूट गया बस समझो अंत उसी क्षण आया,
यह नाराच नहीं है, यह तो तंत्र-मंत्र की माया ।''
अभी और कुछ कहते केशव, अहिमुख छूट पड़ा था,
ज्यों मृगेन्द्र ही मृगशावक पर क्षण में टूट पड़ा था ।

सँभले तुरत, किया रथ नीचे, केशव ने निज रथ को,
निकल गये कुछ दूर हाँकते पथ से अलग विपथ को ।
समझा नहीं धनंजय ने कुछ यह क्या तुरत हुआ था,
महाकाल ने सचमुच में ही जैसे उसे छुआ था ।

बचा अगर तो रथ के नीचे हो जाने के कारण,
स्वर्णमुकुट को छूकर ही बस निकल गया है मारण ।
गिरा मुकुट, जल गया तुरत ही धू-धू कर वह क्षण में,
समझा नहीं किसी ने यह था, यह भी होगा रण में ।

ब्रह्मा से निर्मित किरीट वह सब लोकों में चर्चित,
रणकौशल के लिए पार्थ को पिता इन्द्र से अर्जित;
सूर्य-चन्द्र और दीप्त अग्नि से आगे जो दिखता था,
वही रक्त के कीचड़ में निज कुटिल भाग्य लिखता था ।

अहिमुख से बच गया पार्थ है, रविसुत ने यह देखा,
मुस्काया कुछ मन-ही-मन वह सोच नियति की लेखा;
और तभी नाराच दूसरा खींचा ज्यों तरकस से,
निकल पड़ा वह अश्वसेन फण काढ़े सीधे उससे ।

चढ़ा वाण पर बोल उठा ''मैं वही बासुकी-सुत हूँ,
मारा गया, यही सब सोचे, जिंदा मैं प्रत्युत हूँ ।
माँ को मारा है अर्जुन ने, यही समय है रविसुत,
जहाँ पार्थ है, वहीं फेंक दो, धर्मपिता हे अच्युत।''

कहा कर्ण ने ''उसी आग से मैं भी घिरा हुआ हूँ,
बदले के भावों से मैं तो सर तक भरा हुआ हूँ;
लेकिन कर्ण नहीं यह जाने, एक वाण को फिर से,
बैरी पर साधे दोबारा भीगा कर्म रुधिर से ।

''तब क्या कर्ण अंग का भूपति, धर्म-दान का रवि है,
अश्वसेन, यह कर्ण काव्य क्या, सीधे-सीधे कवि है ।
छिड़ा हुआ है समर, कर्ण यह अपना भाग्य लिखेगा,
जैसा अब तक दिखा हमेशा, हर क्षण वही दिखेगा।''

अश्वसेन की शंकाओं का बाकी अभी था उत्तर,
पाँच तीर आ लगे पार्थ के कर्ण-धनुष पर आकर;
ढीली हुई मुष्टि रविसुत की, धनुष हाथ से छूटा,
धूमकेतु-सा चमक गया, कुछ हिला व्यूह का खूंटा ।

स्वर गूँजा, ''क्या पार्थ देखते, वेधो, यही समय है,
धर्म-नियम में पड़े, तो समझो संभव नहीं विजय है ।
अभी विवश है कर्ण; उठा, तो सबको उठा चलेगा,
कौन बचेगा, अगर तेज यह फिर से सुलग जलेगा !

''फँसा हुआ इस रक्त-कीच में अभी कर्ण का रथ है,
और तीर से घायल अँगुली शोणित से लथपथ है;
इस क्षण सोच-विचार किया, तो ग्रास काल का बनना,
मैंने देखा है रविसुत में खांडव वन का जलना ।

''पार्थ, उठाओ धनुष, कीच में रथ है, यही समय है,
एक तीर जो चला कर्ण पर, पल में पास विजय है ।''
कुछ-कुछ सुना, नहीं सुन पाया, लेकिन भेद खुला था,
देख गगन पर गगनस्वामी का झुका हुआ-सा माथा ।

कुछ ऊँचा कर अपने स्वर को, लेकिन बहुत विनय से,
गिरि की गहन गुफा में गूँजे शंखध्वनि ही जैसे;
कहा कर्ण ने, ''संकट में प्राणी का प्राण-हरण हो,
नीति-धर्म के जो विरुद्ध है, कैसे वही वरण हो ।''

सुना कर्ण को, तो क्रोधित हो काल हो गये केशव,
वाणी की है वह्नि शिखा से आग लपटती भक-भक—
''चुप ही रहो, कर्ण मत बोलो, उस दिन धर्म कहाँ था,
भीमसेन को जहर दिया था, तब सत्कर्म कहाँ था ?

''तेरह वर्ष बिता कानन में जब लौटे थे पांडव,
वंचित रखा राज से इनको धर्म समझते तुम सब !
लाक्षागृह का खेल भयावह, बोलो धर्म यही है ?
अभिमन्यु का वध ही बोलो, सत का कर्म यही है ?

कृष्णा का वह चीरहरण, तब बोलो धर्म कहाँ था,
नीति-न्याय के व्याख्याता का तब सत्कर्म कहाँ था ?
आज प्राण संकट में हैं, तो धर्म याद है आया,
ऐसा ही होता है, जब हो निकट मृत्यु की छाया ।''

सुन केशव को, धैर्य कर्ण का रुका हुआ बह आया,
जहाँ रुका था कथन कृष्ण का, उसमें जोड़ लगाया—
''केशव, कोई और कहे तो कहे, आप मत कहिए,
कहते हैं, तो पांडव के कर्मों पर चुप न रहिए !

''सुनिए, एक बात का उत्तर आप मुझे क्या देंगे,
पाँच वाण आचार्य द्रोण के; प्रश्न अगर निकलेंगे ?
आप कहेंगे, प्राणों की रक्षा में सब कुछ संभव,
समरभूमि में शोणित कीचड़ बन जाते हैं अक्षत ।

''फिर भी दिये सुयोधन ने जब पाँच वाण को तत्क्षण,
किसका था क्षत्रित्व उजागर, कौन धर्म का तारण ?
जो माँगे प्रतिदान दान का, किये कृत्य की कीमत,
उसके माथे पर केशव क्यों चढ़ा रहे हैं अक्षत !

''रण है, तो क्या धर्म दलित हो एक पार्थ के कारण ?
पुण्य कर्म ठहराए जाएं सभी तरह के मारण ?
अभिमन्यु जो मरा समर में, जीवित क्या लक्ष्मण है ?
दुर्योधन-सुत-समर-शौर्य से गर्वित कैसा रण है !

''लेकिन हाहाकार कहाँ है, सुत की खातिर ऐसे ?
पागल होकर नाच रहे हैं पांडव रण में जैसे;
और वही फिर, दोष किसी का, पर मेरे ही सर पर,
पार्थ-विजय के साथ कृष्ण ही नहीं, खडे हैं शंकर ।

''केशव से क्या छुपा हुआ है धर्माधर्म-कथाएं,
बर्बरीक या भूरिश्रवा की, किसकी कथा सुनाएं !
जो अधर्म है, पांडव दल का धर्म वही दिखता है,
और कर्ण के सत्कर्मों को पाप कर्म लिखता है ।

''भूल रहे हैं, कीचक से द्रौपदी-शील का मर्दन,
कहाँ हुआ था वृहन्नला के निठुर हृदय में कर्दन ?
अश्वसेन की माता को क्या मैंने मार गिराया ?
मैंने नहीं पुरुष के गौरव को है कभी लजाया ।

''माँ को दिया वचन, तो रण में छोड़ दिया पांडव को,
छोड़ धनंजय को भी देता, भूलूँ क्या खांडव को !
केशव, क्या कृष्णा का मैं अपमान कभी कर सकता ?
शील-रूप जिसका ही मेरे मन में रहा महकता !

''कवच और कुंडल ले जाता छल से, धर्म नियम है (?)
मृत्युभेद को पूछ, मारना यह सत्कर्म परम है (?)
नर-कुंजर का भेद कहे बिन गुरु के प्राण हरे जो,
क्या वह धर्मतनय है, केशव; धर्म देख सिहरे जो !

''राज्य बसाने की खातिर वन-जन का नाश है पावन ?
जो इसका प्रतिकार करे वह पापी घोर नराधम ?
अग्नि देव के क्षुधा-शमन को अनगिन बलि चढ़ जाए,
कैसा होगा न्यायशास्त्र वह, यह भी धर्म कहाए !

''कह सकते हैं आप, दोष है मेरा गुरूतर भारी,
दुर्योधन के साथ रहा, तो धर्म-शील को गारी ।
ये भी है स्वीकार मुझे, मैत्री का धर्म निभाया,
नाच रही हो भले मृत्यु की मेरे सर पर छाया ।

''देख रहा हूँ धर्म-कर्म को, जिसको चला निभाता,
वही आज इस संकट में मुझसे संबंध छुड़ाता ।
कौन करेगा ऐसे में विश्वास धर्म पर कल से,
भक्तों के ही प्राण छले, संकट में आ कर, छल से !''

तभी पार्थ का वत्सदंत नाराच गिरा रविसुत पर,
कहो भाग्य ही; निकल गया जो कर्ण-मुकुट को छू कर ।
छिटक दूर जा गिरा मुकुट, तो कर्ण-चेतना जागी,
वीर भेष में लौटा रविसुत, क्षणभर पहले त्यागी ।

लगा काटने वाण पार्थ के एक नहीं दस-दस को,
लगा मेटने अर्जुन के सारे ही अर्जित यश को ।
वश से बाहर देख कर्ण को क्रोध पार्थ का उबला,
छूटा फिर रौद्रास्त्र भयंकर कालानल-सा निकला ।

रथ के घोड़े इधर-उधर बचने को दिखे विकल-से,
चक्का भी जा फँसा इसी से रक्तकीच के तल से ।
जितना ही थे जोर लगाते अश्व जुते उस रथ से,
उतना ही धँसता था चक्का, और वही फिर अथ से!

सोचा कुछ रविसुत ने मन में, रथ से उतरा नीचे,
चक्के को वह लगा हिलाने, करते आगे-पीछे;
धरती उठी, उठा कुछ पर्वत, उठा नहीं पर रथ है,
स्वेद-धार से सने अश्व हैं और कर्ण लथपथ है ।

कहा कृष्ण ने अर्जुन से, ''अब साधो वाण, धनंजय !
यही समय अब सिद्ध करेगा, किसकी होगी अब जय ।
नीति-धर्म के ग्रह-विग्रह का नहीं समय अब बाकी,
यह तो क्षण है, पीर हरो तुम पांडव की, वसुधा की !

''अगर उठा ले गया कहीं जो रथ का चक्का, बल से;
हिला-डुला कर, इधर-उधर कर शोणित की दलदल से;
तो फिर देख चुके हो रण की इसकी सभी कलाएं;
गलने वाली दाल नहीं है, कोई दाल गलाएं ।

''अभी काल है, महाकाल-सा टूट पड़ेगा क्षण में,
पांडव की सेना तब बोलो कहाँ दिखेगी रण में ?
इसका भी दुख नहीं मुझे है, दुख है पार्थ इसी का,
बढ़ने वाला और बहुत है भारी दुख अवनी का ।

''विजय-मोद-उन्माद सुयोधन-कौरव का तब जग में,
रौद्र नाचता फिरा करेगा अग-जग में, घर-घर में ।
अभी धर्म मिटने के डर से इतने डरे हुये हो,
जब प्राणों का प्राण साथ में, फिर भी मरे हुये हो ।

''कल तो कौरव के भय से यह धर्म धँसा ही होगा,
सृष्टि-अंत तक नाश-ध्वंश का राज बसा ही होगा;
संतों के मुँह बंद मिलेंगे, ऋषियों की चुप वाणी,
सहमा-सहमा गगन मिलेगा और भूमि कल्याणी !

''अनल-पवन के मुँह पर ताले, सागर भ्रमित मिलेगा,
मंदिर के देवासन पर दानव का रास खिलेगा;
वह भविष्य कैसा तो होगा, कहना बहुत कठिन है,
अभी मोह में फँसे अगर तो दूर नहीं वह दिन है ।

''यह मत समझो कर्ण के लिए घृणा भरी है मन में,
सच पूछो तो कौन कर्ण-सा दिखता है त्रिभुवन में;
लेकिन कुल-रक्षा में कोई एक पुरुष जो बाधा,
और ग्राम-रक्षा में कुल ही अगर प्रतीते व्याधा;

''जहाँ देश की रक्षा हो, तो वहाँ ग्रामहित क्या है,
पर पहले अपनी रक्षा है, मिथ्या किंचित क्या है ।
साधो वाण, यही अवसर है, लोकमुक्ति की खातिर,
घेरे न अवसाद तुम्हें अब, ले दे के यह फिर-फिर !

''लोकशांति के लिए कर्ण का मोह त्यागना होगा,
यह निशीथ का काल नहीं है, पार्थ जागना होगा;
साधो वाण, यही अवसर है, श्रीसुहाग को वर लो,
उड़ते हुए काल को नभ में अभी वाण से धर लो ।

''बचा हुआ है और समय कुछ संध्या उतर चलेगी,
साधो वाण, पार्थ मत चूको, सम्मुख जीत मिलेगी ।
खड़ी हुई है विजय तुम्हारी, नीचे विजय पड़ा है,
लेकिन यह तब तक ही जबतक रथ का चक्र गड़ा है ।''

मुस्काया फिर एक बार था रविसुत उसी तरह से,
घिरा हुआ साढ़े साती से, बोला निकल गरह से—
''मैं भी सबकुछ समझ रहा हूँ, क्यों अनीति पर केशव,
शिव के मन में जाग गया है, क्यों हठात यह भैरव !

''जिस शंका से आप ग्रसित हैं, वह निर्मूल नहीं है,
यही बात जो मैं सोचूँ, तो वह भी भूल नहीं है ।
कह सकते हैं आप, गर्व से भरी आप की सेना,
विजय भाव से भरे वीर उत्पात मचाएंगे ना ?

''क्यों भविष्य की चिंता में हम वर्तमान को मारें,
युद्धभूमि में बची लाज को ऐसे नहीं उघारें !
धीरे-धीरे बात खुल रही, क्यों गृहयुद्ध हुआ यह,
क्यों सौगन्ध शकुनि मामा की बरसों छिपी रही यह ?

''क्यों केशव से छुपी रही यह बात बहुत भयकारी !
कहते सब अन्तरयामी हैं; हम तो हैं संसारी !
तब क्यों दोष सुयोधन पर ही और कर्ण पर केवल ?
अब तो बस इस वर्तमान का बचा हुआ है संबल ।

''मरना तो मरना ही सबको, सबको प्राण गँवाना,
उसी मृत्यु की खातिर क्यों ये छल का ताना-बाना !
केशव, सब पर काल खड़ा है, अलग-अलग नामों से,
अभिधा ही है सत्य यहाँ पर सौ-सौ उपमाओं से ।

''सुनिए, रण में हार हुई जो आज धर्म की, तय है,
आने वाले भी भविष्य में धर्म-नीति का क्षय है ।
लेकर के दृष्टान्त आज का, पापलिप्त जग होगा,
लहूलुहान धरती पर लुंठित होगा ही पनसोखा ।

''जो अधर्म है, वह अधर्म है; धर्म नहीं हो सकता,
योगी, संन्यासी, साधू का कर्म नहीं हो सकता;
मेरा क्या, मैं तो अपना इतिहास लिए चलता हूँ,
सूर्यपुत्र मैं होकर भी उपहास लिए चलता हूँ ।

''केशव, जब तक श्रेष्ठ वंश का अहंकार जग ढोए,
जब तक दीन-दुखी का मन भी इस धरती पर रोए;
राज्यसुखों की खातिर जब धरती के रोम जलेंगे,
वहाँ-वहाँ पर एक कर्ण क्या, सौ-सौ कर्ण मिलेंगे ।

''जो कुछ किया, समय को सीधे सीख-सबक है, केशव,
पाकर विजय देखते रहिए, अर्जित रण का वैभव ।
लगता है, वह शाप भूमि का निकट खड़ा हँसता है,
मेरी ही काया को मेरे प्राणों से कसता है ।

''लेकिन कैसे छोड़ूँगा संकल्प अधूरा रण में,
खांडव-नागों के वैरी को अभी ग्रसूँगा क्षण में ।
रथ का चक्का धँसा हुआ है, धँसे, और धँस जाए,
चाहे मेरे प्राणों पर बंधन जितना कस जाए ।

''रुके शिराओं के शोणित ही, काया लगे शिलावत,
कभी नहीं होने वाला है कर्ण कहीं से आहत;
रुकिए, अभी धनुष धरता हूँ, रथविहीन ही होकर,
विजयी कौन हुआ है ऐसे सचमुच रण में रोकर ?''

सँभला ही था कर्ण धनुष को अपने कर में लेने,
रणकौशल को और नई कुछ पूर्ण कलाएँ देने;
गूँजी थी टंकार पार्थ के धनु की महासमर में,
वाण आँजलिक छूट पड़ा था, नाद भरा अंबर में ।

बढ़ा सुदर्शन की ही गति से, झुका कर्ण की ओर,
दिवस सांध्य के संधि समय को क्षण में गया हिलोर ।
देखा रवि ने पश्चिम नभ से, होकर गिरा अचेत,
हुहुआने लग गयी समर में प्रबल वायु की रेत ।

धरती काँपी, काँपे पर्वत, सरिताएं गति रोक,
क्रन्दन करने लगा समर में अखिल भुवन का शोक;
छाती लगी पीटने दुख से घोर तमस की रात,
उधर कृष्ण के शांत हृदय में उठते झंझावात ।

सबने देखा घटा घिरी, कुछ बूँदे बरसीं, मौन,
घोर अंधेरे में चुपके-से रोया था वह कौन ?
कोलाहल रुक गया अचानक, रौद्र हो गया शांत,
गहन वेदना में डूबा था रण का पूरा प्रांत ।

जितनी देर रहे केशव थे वहाँ कर्ण के पास,
खड़ी रही कुछ दूर मृत्यु ही, शीतल-सा आभास ।
कहा कर्ण ने, ''नहीं जानता, जीत हुई या हार,
छोड़ रहा हूँ धर्म-नीति पर प्राणों का उपहार ।

''केशव, कभी दलित कुल में भी लेकर के अवतार,
यह भी जानिए कुलिन कुलों का क्या है अत्याचार !
तब कहिएगा, क्या अधर्म था और धर्म क्या मेरा,
आँखों के आगे यह केशव कैसा घोर अंधेरा !''

देर तलक ही बात हुई थी, दोनों के ही बीच,
तब तक मृत्यु शोक में डूबी, विचलित रही नगीच ।
नहीं सुना, हैं शंख बजाते पांडव भाई मिल के,
चला गया अवधूत शांत हो सबसे दूर निकल के ।
लौटा हो मधुमास कुसुम के सौरभ का ले भार,
अपने पीछे छोड़ शिशिर का मार्गशीर्ष-विस्तार ।

पंचता पर्व
(सर्ग तेईस)

"चुप हुए क्यों, बोलते ही जाओ सब कुछ दूत,
उस समर में धर्म-छल का खेल वह संभूत;
मैं नहीं होऊँगी विचलित, यह वृषाली बोल,
धैर्य ही तो धर्म होता नारी का अनमोल ।

"बोलते जाओ सभी कुछ, मैं भी तो लूँ जान,
क्या हुआ, जब अस्त मेरा हो गया दिनमान;
दे गए मेरे लिए भी क्या कोई संदेश ?
इस अभागिन के लिए कुछ आखिरी आदेश ।

"बिंध गये जब तीर से थे, कौन उनके पास ?
दूत बोलो, मौन रह कर मत करो उपहास !
सब सहूँगी, जानती हूँ, कठिन है यह काल,
शीश पर फण काढ़ता दुर्भाग्य का है व्याल ।

"पर बहू हूँ अंग की, क्षत्राणी की हूँ लाज,
जो कहो, सच-सच कहोगे; छोड़ सारे व्याज;
क्या बहुत ही कष्ट में थे, क्या दिखे थे दीन ?
हो रही होगी बहुत ही, देह श्री से हीन ।"

हो गया विचलित बहुत ही दूत लेकिन फिर संभल,
खोल कर रखने लगा मन दूर रख ही वाक्छल—
कुछ नहीं ऐसा हुआ था, अंगमाता, क्या कहूँ,
शक नहीं कुछ कीजिए जो एक क्षण मैं चुप रहूँ ।

''धँस गया था अंगपति के कंठ में जब तीर वह,
ग्रीव पर बहता दिखा था रक्त रेखा की तरह ।
आँजलिक था, इसलिए उसका निकलना था कठिन,
पर कहाँ था, एक क्षण भी अंगपति का मुँह मलिन!

''दौड़ कर आए थे केशव ही वहाँ, उनके निकट,
भर लिया था बाँह में, तो वह गए उनसे लिपट,
और फिर कहने लगे, 'बस कुछ समय ही शेष है,
क्लेश मुझको कुछ अगर है, तो इसी का क्लेश है;

'क्या किया अपराध मैंने, जो लड़ा जनपक्ष में ?
योजनों तक फैले विस्तृत वन सघन के रक्ष में ?
क्या सिंहासन लोक-रक्षा का नहीं संकल्प है ?
आप कहिए, अपने मुँह से, अब समय अति अल्प है।

'क्या यही अपराध मेरा, जो लड़ा वन-जन लिए,
राज का यह धर्म होता, मानिए न मानिए ।
नृप का क्या धर्म केवल, राज्य जीते, यज्ञ हो ?
क्या भला उस देश का हो, जब मुकुट ही अज्ञ हो।

'सोचिए केशव, उजड़ते ही रहे वन-जन अगर,
क्या कभी रुकने को है, कल-आज का ही यह समर?
कर्ण का यह शीश-छेदन; प्रश्न का क्या अंत है ?
वन-जनों का जो विरोधी, क्या वही कुलवंत है ?

'सौंपिए अब राजगद्दी यह सभी कुछ पार्थ को,
मारिए, जो भी खड़े हैं रक्ष में, उन आर्त को;
'और भी कुछ है निवेदन, मानिए न मानिए,
वंश से जो दीन है, केशव, उन्हें पहचानिए ।

'पर्वतों की नींव में हलचल हुई, तो शांत क्या,
रह सकेंगे शिखर कहिए, रह सकेंगे प्रांत क्या ?
जाति से, जो हीन उनका जल्द ही उद्धार हो,
उनके कुल में भी कभी भगवान का अवतार हो ।'

एक क्षण को चुप हुआ था दूत लेकिन फिर सँभल,
आगे की कहने लगा, ज्यों अपनी जिद् पर हो अटल—
''मुस्कुराये अंगपति, तो कंठ केशव का भरा,
और आगे कुछ कहेंगे, कुछ नहीं था आसरा ।

''याद केशव को दिलाया, कुछ तभी संकेत से,
भर गये थे एक क्षण में पूर्व के ज्यों चेत से ।
कंठ से नाराच खींचा, और फिर कहने लगे—
'कीजिए न देर केशव, प्राण हैं दहने लगे ।

'अंग की माटी मिले यह अंग में, उद्योग हो,
आप मेरे साथ हों, कोई वहाँ न लोग हो;
जन्मधात्री में मिलूँ मैं, पुण्यसंचित फल मिले,
अंश यह जिसका, उसी में अंश अब यह चल मिले ।

'जन्म-अचला स्वर्ग से भी श्रेष्ठ है; काया मिले,
अब उसी में शौर्य की, संकल्प की माया मिले !
रण-विजय से भी बड़ी है, देश की माटी मिले,
रेत-जल में भष्म होकर देह की काठी मिले !

'देह यह जेठौर की भू में मिले, निष्पंद हो,
चेतना जो बह रही मुझमें अभी तक, बंद हो;
क्या मुझे यह हो रहा है, क्या दिखे फिर और कुछ,
पाँव पड़ते हैं वहीं पर जिस जगह न ठौर कुछ ।

'चेतना पर छा रही कैसी तो छाया, माधवन,
और उसमें खो रही आभा की माया माधवन;
फिर विगत का स्वप्न वह साकार सम्मुख, माधवन,
श्वेत सारस था सरोवर में खड़ा झुक, माधवन ।

'आ गया था एक विषधर तैरता झट, वेग से
पाँव जबड़े में फँसा, तो पंख फट-फट, वेग से;
'पर कहाँ वह उड़ सका था, डूबता-सा दिख रहा,
ज्यों बड़ा-सा शंख जल पर तैरता-सा दिख रहा ।

'चाहता अहि था लपेटे और निगले किस तरह,
और सारस ताक में बाहर तो निकले, किस तरह,
व्याल था कि पाँव को जकड़े हुए था, शक्ति भर,
राहु जैसे चाँद को पकड़े हुए था, शक्ति भर ।

'रास्ता बचने का जैसे न बचा हो, अब कहीं,
मृत्यु ने ही व्यूह यह जैसे रचा हो, अब कहीं;
चाहता सारस विपद का अंत कोई, जल्द ही
और आखिर जग गई थी शक्ति सोई, जल्द ही ।

'चोंच से करने लगा था वार, सारस इस तरह,
सिद्ध आखिर में हुआ वह कर्म पारस इस तरह।
चोट खाया व्याल जल में जा समाया, सिर पटक,
हट गया आतंक जो था पास आया, सिर पटक।

'पर चढ़ा जो विष भला कैसे उतरता ? प्रश्न था,
किस तरह से व्योम में जाकर विचरता ? प्रश्न था।
झाड़ियों तक वह घिसटता ही गया था, पास में
अब नहीं बचने को शायद कुछ बचा था, पास में।

'इसलिए ही सारी शक्ति को लगा कर, उड़ चला,
बुझ रहा जो तेज था, उसको जगा कर, उड़ चला,
तोड़ते दम पंख को यूं फड़फड़ाया, इस तरह,
उड़ते-उड़ते देश अपना लौट आया, इस तरह ।

'पर कहाँ था बल कि नीचे उतर पाता, देश में,
अपनी अचला के सलिल से सँवर पाता, देश में ?
'टँग गया नभ में, उड़े थे पंख खुल-खुल, गिर पड़े,
चाँदनी के फूल झरते-से ही बिल्कुल गिर पड़े।

'जो गिरे थे पंख, फिर जिस-जिस जगह पर, उस जगह
खिल गये थे श्वेत चम्पा फूल बन कर, उस जगह,
छा गया था दूर तक चम्पक कुसुम-वन, देश में,
देखना वह चाहता हूँ चंपकानन, देश में ।'

दूत का था कंठ कुछ अवरुद्ध होने लग गया,
पर हृदय-आँसू सँभाले अनकहे को कह गया—
''अंगदेवी, अब लड़खड़ाए थे वचन अंगेश के,
अप्रतिम थे रूप सारे, प्राण के आवेश के ।

''बोलिए अब, क्या कथा वह भी सुनाऊँ, जो अकथ?
अश्रु से भीगे जहाँ सब, रक्त लथपथ, जो विरथ;
क्यों छुपाऊँ, क्या छिपाने से मिलेगा, अंगदेवी,
मन नहीं जितना छिला, उतना छिलेगा, अंगदेवी !

''बंद आँखें खुल गयी थीं अंगपति की, सुधि भरी,
कब कहाँ सीमा है होती बुद्धि-मति की आखिरी !
सामने पीछे खड़ा जो पार्थ देखा कृष्ण के,
कुहनी के बल तलहथी पर शीश टेके, कुछ झुके ।

''मुस्कुराए, फिर कहा, 'अब चाहिए क्या पार्थ को
दे दिया है दान में सब विजय-विजया पार्थ को ।
अब तो मैं निर्द्वन्द्व हूँ, निर्भार हूँ मैं, सच कहूँ,
कब झुका, अब भी अटल आकार हूँ मैं, सच कहूँ ।

'इसलिए कि कुछ नहीं संचय किया है, यह भी सच,
जो मिला था दान में, सब कुछ दिया है, यह भी सच ।
यह धरा शोभित अगर है, दान से है, मानिए,
कर्ण की पहचान इस पहचान से है, मानिए !

'पार्थ, अब क्या चाहते हो; शेष क्या है, इस समय,
तीर टूटे, धनुष टूटा, खंड ज्या है, इस समय;
इस समय मुझसे अलग हैं त्राण के साधन सभी,
पार्थ सोचो, सोचा होगा काल ने भी क्या कभी ?'

थी वृषाली मौन तब क्या बोलती भी, उस समय,
था वहाँ पर कौन, जो मन खोलती भी, उस समय,
दूत कहता ही गया था जड़ बना-सा, उस समय,
अंगदेवी, मन-विटप पर दुख-कुहासा, उस समय—

''सुन सभी हतप्रभ हुए, कोई न बोला, चुप रहे,
तब वहाँ श्रीकृष्ण ने सब कुछ कहा, जो अनकहे—
'क्या कहूँ मैं, पार्थ का मन मानता ही यह नहीं,
सृष्टि भर में, इस धरा पर आदमी ऐसा कहीं।

'घोर दुख में धर्म का पालन न छोड़े नर कहाँ !
संकटों में हो, वचन से मुँह न मोड़े, नर कहाँ ।
देवता तक धर्म से बचते रहे हैं, सत्य है,
काल के अनुरूप मन रचते रहे हैं, सत्य है ।

'कर्ण कैसे हो सके अपवाद इसका; झूठ है,
पाँच तत्वों से बने को किस तरह की छूट है ?
'देखना यह चाहता है, आज तक देखा न जो,
यह तुम्हारे धर्म पर शंका किए है, हो न हो ।

'यह परीक्षा भी परीक्षा घोरतम है, जानता,
पर कठिन क्या धर्म के हित ही कहाँ, मैं मानता ।
चाहती क्या नियति है, संदेश क्या है, क्या कहूँ,
इस अघट के पीछे भी उपदेश क्या है, क्या कहूँ ।

'क्या तुम्हारे पास है जो दान दोगे कर्ण, अब ?
इस विपद में धर्म को सम्मान दोगे, कर्ण, अब !
देखता हूँ सृष्टि की साँसे रुकी हैं, इस समय,
देश की क्या, काल की आँखें झुकी हैं, इस समय ।'

यह सुना तो एक क्षण सिहरी वृषाली, देह भर,
प्रश्न क्या पूछा, लगा पीड़ा उठाली, देह भर—
''फिर कहा क्या नाथ ने, आगे की बोलो, दूत !
आज तो मेरे लिए कुछ भी नहीं है छूत ।

''बस मुझे समझो शिला ही, अब कहाँ हूँ देह,
डूबती धरती-नदी, ऊपर बरसता मेह;
पर रुको मत, बोलते ही जाओ सब कुछ, दूत !
क्या किया उसके लिए भी, जो नहीं था हूत ?''

सकपकाया दूत पहले, पर कहा, फिर इस तरह
''खींच कर बल-प्राण को बोले तभी वह दुख असह—
'हित किया, जो धर्म की बातें चलाई, माधवन,
स्वर्ण के उस दंत की अब याद आई, माधवन ।

'जो लगा मुँह में किसी के सोच पर यह, कर्ण के,
स्वर्णपुष्पों से सजे जीवन-कमलदह, कर्ण के ।''
'झूठ ये सारी ही बातें, बस कथा है, लोक में,
सत्य इससे दूर कोसों । अन्यथा है, लोक में ।

'वैसे इसकी इच्छा मुझको कब रही है, माधवन
इससे बढ़ कर देश की अपनी मही है, माधवन !
जन्म फिर होता अगर हो, देश में हो, कामना,
कर्ण दीनों के दलित के भेष में हो, कामना !

लीजिए यह दंत ।' ''जैसे ही कहा, मैं क्या कहूँ,
ले लिया पत्थर वहीं पर जो पड़ा; दुख में दहूँ ।
तोड़कर अपनी हथेली पर लिया था और फिर,
माधवन के आगे कर अर्पित किया था और फिर ।

''घिर गये थे मेघ माधव के नयन में, क्या कहूँ,
बिजलियाँ चमकीं, उठे ठनके गगन में, क्या कहूँ !
क्या कहें देवी, रखा था शीश केशव-वक्ष पर,
और बाँया हाथ वैसे ही पड़ा था अक्ष पर ।

''कुछ नहीं देखा किसी ने उस तमस में क्या हुआ,
प्राण के फल को कुतरता काल का बैठा सुआ;
और फिर घन-नाद-सा, घरघर हुआ रथ का विभव,
रुक गये थे, जो जहाँ थे, शोक के संग हर्षरव ।

''गूँजता पहरों रहा, आकाश में रथ-नाद वह,
अंगमाता, किस तरह से कह सकूँ अवसाद वह।
हो क्षमा, अब और कुछ भी कह सकूँ, संभव नहीं,
इस जगह मैं रुक सकूँ, या रह सकूँ, संभव नहीं ।''

चेत में आई वृषाली मन-हृदय को बाँध कर,
दूत से इतना कहा, सब दंश-पीड़ा लाँघ कर—
''कुछ नहीं बोलो, रहा क्या बोलने को, दूत,
क्या छिपा ही रह गया संदेश का आकूत !

''साथ मरने का लिया अधिकार मेरा छीन,
अंगश्री को जोगना है, हो के अब श्रीहीन !
क्या हुआ जो हूँ अभागिन, भाग्य भव का जाग!
मेरे संग में मेरे पति का आज भी अनुराग ।

''सुधि रहेगी साथ में तो, क्या डँसेगा क्लेश,
अंगपति की सुध लिए यह जागता है देश ।
अब जगेगी सृष्टि सारी, पा नया आलोक,
देखती हूँ छट रहा है व्योम-भू का शोक ।

''और उसपर अंगपति का है लिखा आलेख
वायु, अग्नि, सिन्धु, अब आँखें उठा कर देख !
फिर तमिस्रा को हटाए आ रहा आलोक,
किस तरह माथा पटक कर मर रहा है शोक ।''

''द्वेष, छल, विध्वंस का सिमटा हुआ संसार,
मेरे पति सम्मुख मेरे हैं धर्म का ले भार;
निर्बलों में नाथ के गूँजेंगे निशि-दिन गान,
क्या हुआ जो पक्ष में न हो सके भगवान ।

''देह-मन का धर्म जो, वह कर गए हैं नाथ,
शून्य में दो हाथ के संग हैं करोड़ों हाथ;
मिल रहा है दूर नभ से कुछ मुझे सन्देश,
'प्राण-रक्षा में निरत सब, अब कहाँ विद्वेष !

'नव सृजन, नव कल्पना हित जो हुआ; अनिवार्य,
और अब जो सामने होगा, वही तो आर्य;
सृष्टि को निश्चित मिलेगा कुछ नया आलोक,
कुछ कहाँ अब वाद या प्रतिवाद की है रोक ?'

उग रहा है सूर्य पूरब के क्षितिज पर क्रुद्ध,
रौंदता अपने पगों से रक्त-रंजित युद्ध ।

❐❐